लेखकके दो शब्द।

जैनधर्ममें साहित्य अगाध है। सच पूछो तो जैसा उच्च और आदर्श साहित्य जैन साहित्य संसारमें है वैसा अन्यत्र सर्वथा नहीं है। यह जैन साहित्यमें ही खूबी है कि आत्मोन्नतिका सत्य सत्य मार्ग निर्भयतासे वही प्रकट करता है—हिंसा, झूंठ, चोरी और पापाचरणोंसे जीवोंको बचानेका उपदेश देता है; देह, संसार और भोगोपभोग पदार्थोंके मोहसे रक्षा करनेका उपदेश देता है और क्रोध, मान, माया और लोभसे अपनी रक्षा करनेका मार्ग प्रकट करता है।

सदाचार, नीति और पवित्र आचार विचारोंको दृढ़ रखनेका उपदेश मिलेगा तो एक मात्र जैन साहित्य हीमें मिलेगा। मनुष्य अपना आदर्श जीवन बना सक्ता है तो मात्र एक जैन साहित्यके अभ्याससे ही बना सक्ता है।

जैन साहित्यमें भी सबसे प्रथम प्रथमानुयोग या चरणानुयोगके साहित्यका अवलोकन करना चाहिये, क्योंकि इन दोनों प्रकारके अनुयोगोंसे मनुष्य अपना जीवन—धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थको सिद्ध करता हुआ—सर्वोत्कृष्ट और सबसे अधिक आदर्शरूप बना सक्ता है।

पश्चिम देशके अनुकरण और कुशिक्षाके प्रभावसे मनुष्योंके जीवन अतिशय गर्हित हो गये हैं। सदाचार, नीति और पवित्रतासे बिलकुल ही दूर हो गये हैं। नकल पोसमें सन्मार्गसे पराङ्मुख हो गये हैं। इतना ही नहीं किंतु उनने अपने ज्ञानका उपयोग अधर्मको धर्म, पापिष्ट और हिंसामयी क्रूर क्रियाओंको सदाचार

और निंद्य आचरणोंको नीति बतलाकर जीवनके पवित्र उद्देश्यको नष्टभ्रष्ट कर दिया है।

बालक बचपनसे ही कुशिक्षाके प्रभावसे अपने पवित्र जीवनका ऐसा सत्यानाश कर देता है कि युवावस्था प्राप्त होते२ उसका जीवन एकदम गिर जाता है। जीवन ही मात्र नहीं गिरता है किन्तु उसका पवित्र चारित्र दिखावटी खोखा हो जाता है—मलिन वासना और मलिन आचरणोंसे पूर्ण हो जाता है।

कुशिक्षाके प्रभावसे बालक आचरणोंसे ही भ्रष्ट नहीं होता है, किन्तु विचारोंसे भी भ्रष्ट हो जाता है। सदाचार, नीति और पवित्रतासे उसे ग्लानि होजाती है और वह चट कह देता है कि झूंठे (उच्छिष्ट) खानेमें परस्पर प्रेम बढता है, परन्तु उसको यह बोध नहीं है कि उच्छिष्ट खाना रोगका घर है और ज्ञानतंतुओंमें कितनी मलिनता उत्पन्न करनेवाला है। इसी प्रकार शराबमें जीवहिंसा कैसे होती है ? उसमें किधर जीव हैं ? इस तर्कका उत्तर क्या दिया जाय ?

रज, वीर्य, शुद्धि, कुलशुद्धि और भोजनपान शुद्धिका असर मनुष्योंके शरीर, खून, धातु, उपधातु और ज्ञानतंतुओंमें ऐसा दृढ़ होता है कि मरनेपर वह अपना सम्बन्ध छोडता है।

बाह्य आचार-विचारोंका आत्मापर पूर्ण असर है। यह सब प्रकारसे सिद्ध बात है। तो भी कुशिक्षाके कारण मनुष्य इन सब बातोंको भूल जाता है, विचारहीन और जडज्ञानवाला हो जाता है। उसकी तर्क स्वार्थसे भरी हुई मदांध ही होती है जो सत्य विचारोंसे रहित होती है।

इस श्रावकाचारमें इसी बातका आभास बहुत अच्छी तरह कराया है, इसी लिये इसका मैंने छायानुवाद नहीं किया है किंतु स्वतंत्र अनुवाद किया है तो भी ग्रन्थका आशय नष्ट नहीं किया है।

बालकोंको विशेष उपयोगी हो इस लिये इसमें कथाभागका भी प्रवेश किया गया है।

ज्ञानका फल सदाचार धारण करना है ज्ञानका संपादन इसी लिये करना चाहिये, परन्तु ज्ञानको संपादनकर जिस मनुष्यने हिंसा, झूठ, चोरी, पापचरण और अनीतिको नहीं छोडा तो कहना चाहिये कि उसका ज्ञानका प्राप्त करना वृथा है।

ज्ञानको प्राप्तकर अपने आचरण पवित्र बनाओ, अपने विचार पवित्र रखो, अपना रजवीर्य शुद्ध रखो, भोजनपान शुद्ध रखो, अपनी नीति सदाचारयुक्त और सत्य रखो—सदाचारी, नीतिमान और सच्चे धर्मात्मा बनो।

मोक्षका द्वार सदाचार और आदर्श जीवनसे ही प्राप्त होगा इस लिये सत्कर्मोंको भूलो मत और कुशिक्षाके फलसे विषयकषाय और निंद्य आचरणोंमें फँसो मत। इस ग्रन्थका एक यही उद्देश्य है।

सदाचारके दो भेद हैं—सकल और विकल। सकल सदाचार कुलशुद्धि विना नहीं होता है और विकल चारित्र भी कुलशुद्धि विना पूर्णरूप नहीं होता है इसलिये सबसे प्रथम कुलशुद्धिपर ध्यान रखना ही श्रावकाचारका मूलबीज है।

श्री गुणभूषण आचार्यने इस भूधराको कब पवित्र किया? और उनने कौन २ से ग्रन्थ निर्माण किये इसका हमारे पास विशेष

साधन नहीं है परन्तु गुणभूषण भट्टारक एक ईडरके पट्टमें भी हो गये हैं, उनके पट्टमें आपका नाम है।

अन्तमें विद्वानोंसे प्रार्थना है कि आगम विरुद्धता हो तो मुझे अबोध बालक समझकर क्षमा करें और शारदामाता भी मुझे क्षमा करे।

आगमकी दृढ श्रद्धा रखकर आगमका अभ्यास करो तो रत्नत्रय प्रकट होगा। अन्यथा मिथ्या मार्ग प्रकट होगा।

समस्त जीव चारित्रको धारणकर सुख और शांतिको प्राप्त हों, मात्र एक यही भावना आपके सामने रखकर विराम लेता हूं।

सदाचारियोंका उपासक—
नन्दनलाल जैन वैद्य।

हमारा निवेदन।

हमें हर्ष है कि आज हम श्री मद्‌गुणभूषणस्वामी विरचित श्रावकाचारका उत्तरखंड लेकर आपकी सेवामें उपस्थित हैं। इस ग्रंथके कुल ३ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय विस्तृतटीका सहित (सम्यग्दर्शन वर्णन) हम गत वर्ष इसी दि० जैनके ग्राहकोंको भेट कर चुके हैं और अपनी प्रतिज्ञानुसार आज दूसरा खंड भी दिगम्बर जैनके इस वर्ष (वर्ष १८वा वीर सं० २४५१) के ग्राहकोंको भेट कर रहे हैं।

इस खंडके साथ यह ग्रंथ पूर्ण होगया है। इस उत्तर खंडमें सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्रका वर्णन विस्तृत रूपमें राष्ट्रभाषामें मूलग्रंथका अभिप्राय न छोड़कर किया गया है। पाठकोंके विशेष

सुभीतेके लिए यत्र तत्र प्रासंगिक कथाएं भी दी हैं। जिनसे यह ग्रंथ और भी सरल बना दिया है।

पाठकोंके सुभीतेके लिए अंतमें मूलग्रंथ (श्लोक मात्र) भी दिया है व आदिमें पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध की विस्तृत (८ पेज) विषय सूची भी दी है जिससे प्रत्येक पाठक इच्छक विषय तुरत निकाल सकेंगे।

पूर्वार्द्धमें जल्दीके कारण साथमें उसकी विषयसूची न दे सके थे। जो बहुत विस्तारके साथ उत्तरार्द्धमें लगा दी गई है अतः हम पाठकोंसे निवेदन करेंगे कि जिन्होंने पूर्वार्द्ध मंगाया है वे उत्तर खंड अवश्य मंगावें, इस खंडमें बहुतसी अत्यावश्यक सामग्री लगाई गई है। व जो उत्तरखंड मंगाते हैं वे पूर्वार्द्ध अवश्य मंगालें, क्योंकि इसके बिना आपका ग्रन्थ अपूर्ण रहेगा व आप सम्यग्दर्शनका स्वरूप जाननेसे वंचित रहेंगे।

यह ग्रन्थ हमने इतनी सरल व विस्तृत टीकामें इस लिए लिखाया है कि जिससे बालकसे लेकर वृद्ध तक अबोध पुरुष भी सहजमें प्रत्येक बात समझके जैनधर्मका रहस्य जानकर उसके पालनमें विशेष तत्पर होसके।

९०० प्रति दि० जैनके ग्राहकोंको वितरण कर दी गई हैं सिर्फ ३०० बची हैं जो मंगानेमें ग्राहक प्रमाद न करें, क्योंकि फिर न मिल सकेगा।

प्रकाशक।

विषय-सूची।

पूर्वार्द्ध-प्रथम अध्याय।

उत्तरार्द्ध ।

दूसरा अध्याय ।

तीसरा अध्याय ।

श्रीमद्गुणभूषणस्वामी विरचित-

श्रावकाचार

उत्तरार्द्ध

द्वितीय अध्याय ।

इस अध्यायमें सम्यग्ज्ञानका निरूपण करते हैं-

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप—जो ज्ञान संदेह रहित, विपरीतार्थ रहित, विकल्प रहित और न्यूनाधिक रहित वस्तुके स्वरूपको तथा अपने स्वरूपको निश्चयात्मक जाने उसको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

जो ज्ञान संदेहादि दोषोंसे पूर्ण होता है वह सम्यग्ज्ञान नहीं।

संदेह—विरुद्ध अनेक कोटिमें रहनेवाले अनिश्चयात्मक ज्ञानको संदेहज्ञान कहते हैं। जैसे यह सीप है या चांदी। इस प्रकारके ज्ञानमें न तो सीपका ही निश्चय है और न चांदीका ही निश्चय है। तथा यह ज्ञान सीप और चांदी दोनोंमें एक साथ होता है इसलिये इसको अनेकार्थ कोटिगत कहते हैं। ऐसा ज्ञान वस्तुके स्वरूपको प्रमाणरूप सिद्ध नहीं कर सक्ता है। इसको संशय या भ्रमात्मक ज्ञान भी कहते हैं।

विपरीत-विरुद्धार्थ एक कोटि गत निश्चयरूप ज्ञानको विपरीत ज्ञान कहते हैं। जैसे चांदीसे विरुद्ध सीप पदार्थमें चांदीका ज्ञान होना। यह चांदी ही है; इसप्रकार निश्चयात्मक ज्ञानको विपरीत ज्ञान कहते हैं। सीप चांदीसे भिन्न है परंतु उसमें श्वेत और चाचिक्य गुणोंकी समानता देखकर सीपसे विरुद्ध चांदीमें भी निश्चयात्मक 'यह चांदी ही है' ज्ञानका होना सो विपरीत ज्ञान है-शरीरमें आत्माका निश्चयात्मक ज्ञान होना।

अनध्यवसाय ज्ञान-जिस ज्ञानमें पदार्थके स्वरूपका ही बोध न हो। जैसे मार्गमें चलते समय कुछ लग जानेपर क्या लगा है? इसका बोध ही नहीं है। इसप्रकार पदार्थके स्वरूपके बोधसे रहित ज्ञानको अनध्यवसाय ज्ञान कहते हैं। इन तीनों प्रकारके दोषोंसे रहित ज्ञान प्रमाण होता है।

जो ज्ञान न्यूनाधिक रूपसे वस्तुके स्वरूपको प्रकट करता है वह ज्ञान भी मिथ्या होता है। क्योंकि पांच और पांचके जोडने पर नव या ग्यारह (११) कहना मिथ्या ज्ञान है ऐसा ज्ञान भी प्रमाण नहीं होता है।

अग्रहीत पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान होना चाहिये। जिस पदार्थका एकवार जिस ज्ञानसे निश्चय हो चुका है फिर वह उस पदार्थको ही वार२ ग्रहण करता जाय तो वह ग्रहीतग्राही कहलाता है। ऐसा ज्ञान भी अनुपयोगी ज्ञान कहलाता है।

पदार्थोंके स्वरूपको जो निश्चयात्मक जानता हो वह ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है। पदार्थोंके स्वरूपको अनिश्चयरूपसे वतलानेवाला सम्यग्ज्ञान नहीं होता है।

ज्ञान अपने स्वरूप और पदार्थोंके स्वरूप दोनोंका ही बोध कराता है। जो ज्ञान पदार्थके स्वरूपको तो प्रतिभास करे और अपने स्वरूपको प्रतिभास नहीं करे ऐसा ज्ञान भी दोषपूर्ण होता है। जिस प्रकार दीपक अपना और पर पदार्थ दोनोंका ही प्रकाश करता है। ज्ञान भी दीपकके समान दोनोंका ही प्रतिभासक होता है। जो अपना प्रतिभासक न हो तो उस ज्ञानके प्रतिभास करनेके लिये अन्य ज्ञान चाहिये और फिर उस ज्ञानके प्रतिभास करनेके लिये अन्य ज्ञान चाहिये। उस प्रकार अनवस्था दूषण प्राप्त होता है और ज्ञानकी स्थिति स्थिर नहीं रहती है।

पदार्थका जैसा स्वरूप है उसको वैसा ही जाननेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है ऐसा सम्यग्ज्ञान जीवोंको सम्यग्दर्शनके होने पर ही होता है।

जीवका ज्ञान गुण है। ज्ञान जीवसे किसी भी अवस्थामें भिन्न नहीं होता। जीव ज्ञानसे रहित नहीं होता है। जीव अपनी कैसी ही सूक्ष्मसे सूक्ष्म और क्षुद्रसे क्षुद्र अवस्था क्यों न धारण करले परन्तु वहां पर भी ज्ञानकी सत्ता अवश्य ही रहेगी। इस लिये ज्ञानरहित जीव कभी नहीं होता है, परन्तु वह ज्ञान 'जबतक आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण व्यक्त नहीं हुआ है तबतक' मिथ्या रूपमें परिणत रहता है और जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तब वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। ज्ञान वही है परन्तु सम्यग्दर्शनके विना वह मिथ्या है और सम्यग्दर्शन होते ही वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। यदि विस्तार दृष्टिसे देखा जावे तो ज्ञानके विकल्पोंमें बहुतसे भेद

दृष्टिगोचर होंगे, परंतु उन सब विकल्पोंको प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञानमें विभागित कर सके हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान—जो ज्ञान दूसरोंकी सहायता विना ही पदार्थोंको स्पष्ट जाने वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह ज्ञान भी कथंचित दो प्रकार होता है। मन और इंद्रियोंकी सहायता विना ही आत्मा अपने आप ही (स्वयं) अपने आत्मज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों (मूर्तीक, अमूर्तीक, त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको द्रव्य पर्याय सहित एक साथ जाने) को प्रत्यक्ष जाने स्पष्ट जाने, वह सकलप्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

जो ज्ञान—दूसरोंकी सहायता विना मूर्तीक द्रव्य तथा उसकी थोड़ासी पर्यायोंको आत्मा द्वारा स्पष्ट जाने—प्रत्यक्ष अवगत करे वह एक देश प्रत्यक्ष ज्ञान है।

प्रत्यक्षका एक भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी है। जो नेत्रादि इंद्रिय द्वारा रूपी पदार्थको किंचित्स्पष्ट जानता है।

परोक्ष ज्ञान—जो ज्ञान मन, इंद्रिय और आलोकादिकी सहायतासे पदार्थोंको अस्पष्ट जाने वह परोक्ष ज्ञान है।

इसप्रकार सामान्यसे ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञानके—केवल ज्ञान, मनपर्यय ज्ञान, और अवधि ज्ञान ऐसे तीन भेद हैं। उसमेंसे केवलज्ञान समस्त पदार्थोंको एक साथ प्रतिभासी होनेसे सकलप्रत्यक्ष ज्ञान है। मनः पर्यय और अवधि ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष भासक हैं। इसलिये वे विकल प्रत्यक्ष हैं।

परोक्षज्ञानके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ऐसे दो भेद हैं। ये दोनों समस्त जीवोंको सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्ज्ञानरूप होते हैं।

सम्यग्दर्शनके विना ये दोनों ज्ञान तथा अवधिज्ञान मिथ्यारूप ही बने रहते हैं।

इसप्रकार सम्यग्ज्ञानके पांच भेद हैं।

मिथ्या ज्ञानके मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और अवधिअज्ञान ऐसे तीन भेद हैं। इस प्रकार ज्ञानके आठ भी भेद हैं। शुद्ध जीवके इन आठ ज्ञानोंमें एक मात्र केवलज्ञान ही होता है। जो जीवका स्वभावरूप है। अरहंत परमात्मा तथा सिद्धपरमात्माके भी केवलज्ञान ही है। यह केवलज्ञान आदि और अनंत है क्योंकि—जिस समय यह आत्मा आत्मध्यान द्वारा चार घातियाकर्मोंको नाश करता है तब उसके केवलज्ञान प्रकट होता है। फिर वह कभी नाश नहीं होता है इसी लिये वह सादि और अनंत है, नित्य है, अविनाशीक है, व्यापक है, आत्म स्वभावरूप है, निराबाध है, सर्वगत है और सकल ज्ञायक है।

जिस समय जीव आपनी उन्नति करता हुआ केवलज्ञानको प्राप्त होता है। तब वह अपने असली स्वभावमें स्थिर हो जाता है फिर उस स्वभावका कभी किसी भी समय चाहे कैसा ही त्रिलोकको उलट देनेवाला उपद्रव उत्पन्न हो जावे परन्तु तो भी आत्माकी अवस्था नहीं बदलती है। जैसी स्थितिमें है वैसी ही बनी रहती है। न उसका ज्ञान ही बदलता है। इस लिये वह ज्ञान नित्यज्ञान कहलाता है। सर्वज्ञ प्रभुको यही ज्ञान होता है।

मनःपर्ययज्ञान मिथ्यारूप नहीं होता है। जिसको यह ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह उसी भवमें या दो तीन भवमें मोक्षको अवश्य ही प्राप्त करेगा।

अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान भी होता है। मिथ्यादृष्टि जीवोंके मिथ्या अवधिज्ञान होता है। सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यगवधिज्ञान होता है।

मति, श्रुत ज्ञान सब संसारी जीवोंके होते हैं। जिस समय सम्यग्ज्ञानरूप होते तब वे कतिपय भवनें या उसी भवमें भी केव-लज्ञानको उत्पन्न करते हैं।

मिथ्या मति, श्रुत अज्ञान गृहीत और अगृहीत भेदसे दो प्रकार है।

मिथ्या शास्त्रोंके पठन पाठनसे ज्ञानमें पदार्थोंके स्वरूपका, विपरीतादिरूप श्रद्धान होना सो गृहीत मति-श्रुत अज्ञान है। और अनादिकालसे पदार्थोंके स्वरूपमें विपरीत श्रद्धान होना सो अग्रहीत अज्ञान है।

ज्ञानका विशेष स्वरूप—

मति ज्ञानका स्वरूप—जो ज्ञान मन और इंद्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न हो वह मति ज्ञान कहलाता है। स्पर्शन इंद्रियजनित मति ज्ञान, रसना इंद्रिय जनित मतिज्ञान, घ्राण इंद्रिय जनित मति ज्ञान, चक्षु इंद्रिय जनित मति ज्ञान, कर्ण इंद्रिय जनित मति ज्ञान और मन-अनिंद्रिय-जनित मति ज्ञान। इसप्रकार मति ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण छह होनेसे ज्ञानके भी छह भेद हैं।

पदार्थोंके भेदसे भी मति ज्ञानके भेद होते हैं। समस्त पदार्थों (मति ज्ञान जिनका विषय है) के सामान्यरूपसे प्रकट और अप्रकट ऐसे दो भेद हैं।

प्रकट पदार्थोंका ज्ञान चार प्रकारसे होता है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषयी और विषयके सहधान होनेसे पदा-

र्थोंकी सत्ता मात्रको प्रकट करनेवाला दर्शन होता है । उसमें पदा-
र्थोंके आकारादि विकल्पोंका अवलोकन नहीं होता है । मात्र पदा-
र्थोंकी सत्ताका ही बोध होता है । उस दर्शनके बाद श्वेत–पीतादि
रूप विशेष आकार सहित निश्चयात्मक पदार्थोंका ज्ञान होनेको
अवग्रह ज्ञान कहते हैं । जैसे नेत्र इंद्रियसे दूरस्थानवर्ती प्रदेशमें
कुछ देखा "वह कुछ दीख रहा है" परंतु क्या दीख रहा है,
श्वेत है या कृष्ण है ? इत्यादि कुछ भी ज्ञान नहीं होता है मात्र
पदार्थकी सत्तारूप दर्शनात्मक ज्ञान हुआ है । उसको दर्शनोपयोग
कहते हैं । इसके बाद उस पदार्थमें यह श्वेतरूप है, ऐसा निश्च-
यात्मक कोई भी आकारको प्रकट करनेवाले ज्ञानको अवग्रह ज्ञान
कहेंगे । यह ज्ञान संशयरूप नहीं है क्योंकि संशयज्ञान अनिश्च-
यात्मक होता है । यह निश्चयात्मकरूप है । इसलिये संशय नहीं
है । विपरीत भी नहीं है क्योंकि विरुद्धार्थको प्रकट करनेवाला नहीं
है । पदार्थोंका कुछ भी बोध करा रहा है इसलिये अनध्यवसाय
नहीं है किंतु सम्यग्ज्ञान रूप है ।

इस प्रकार अवग्रहरूप जाने हुए पदार्थमें यह जो श्वेतरूप
दीख है वह पताका है या बकपंक्ति है ? इस प्रकार विशेषरूप
परिणत हुए निश्चयात्मक ज्ञानको ईहा मतिज्ञान कहते हैं । यह
ज्ञान भी संशयरूप नहीं है, क्योंकि अपने विषयमें पदार्थके स्व-
रूपका निश्चय ही कराता है । उभय कोटिगत अनिश्चयात्मक
ज्ञानको संशय कहते हैं । इस ज्ञानमें उभयकोटि गतता भी नहीं है
क्योंकि पताका या बकपंक्तिमेंसे किसी एक रूपको ग्रहण करनेसे
संशयका अभाव ही सिद्ध होता है और जिस समय ऐसा अनि-

श्रयात्मक उभयकोटि गत होगा उस समय उसको संशय ही कहेंगे यह ज्ञान निर्णयात्मक होनेसे निश्चयरूप है। अतएव सम्यग्ज्ञान है।

अवग्रह और ईहासे जाने हुए पदार्थमें यह वकपंक्ति ही है क्योंकि आवागमनरूप कार्य वलाकाका नहीं हो सक्ता? इस प्रकार अनेक तर्कोंके द्वारा निश्चयात्मक ज्ञानको अवायज्ञान कहते हैं।

"यह वकपंक्ति ही है" इस प्रकार अवायज्ञानसे निश्चय किये हुए पदार्थको कालांतरमें भूलना नहीं। उस पदार्थका जैसा स्वरूप है वैसी ही ज्ञानकी धारणाका होना अथवा वैसे ज्ञानकी स्थिरताका होना सो धारणा है।

इस प्रकार मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकार होता है। यह चारों ही प्रकारका ज्ञान पांच इंद्रिय और मनसे विषयान्वित होता है इस लिये मतिज्ञानके २४ भेद हो जाते हैं। उसका क्रम यह है—स्पर्शन इंद्रियजनित अवग्रहज्ञान, स्पर्शनेन्द्रिय जनित ईहा ज्ञान, स्पर्शनेन्द्रिय जनित अवाय ज्ञान, स्पर्शनेन्द्रिय जनित धारणाज्ञान, इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियके ४ भेद हुए उसी प्रकार रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मनके ४ चार चार भेद होनेसे मतिज्ञानके २४ भेद होते हैं—

प्रकट पदार्थोंको सामान्य रूपसे संक्षेपमें विभागित करें तो १२ भेदोंमें विभक्त हो सक्ता है। वे १२ भेद ये हैं।

वहु १, अवहु २, वहुविध ३, अवहुविध ४, क्षिप्र ५, अक्षिप्र ६, अनिसृत ७, निःसृत ८, अनुक्त ९, उक्त १०, ध्रुव ११ और अध्रुव १२।

ऐसे पदार्थ वहुतसे हैं। जो संख्यामें वहुतसे होते हैं। वहु

शब्दसे यहांपर संख्यावाची बहु शब्दका अर्थ ग्रहण करना चाहिये। जैसे बहुतसे रुपये, बहुतसे मनुष्य, बहुतसे तारा इत्यादि। बहु संख्यावाची पदार्थोंका अवग्रहादि भेद रूप ज्ञान होता है। इसलिये मति ज्ञानके ये भेद होते हैं।

जो पदार्थ एक रूप ही है अनेक संख्यारूप नहीं है अथवा एक ही है ऐसे पदार्थका भी अवग्रहादि ज्ञान होता है। जैसे सेनामें एक हाथी आदिका ज्ञान।

ऐसे भी पदार्थ बहुतसे हैं जो संख्यामें बहुत रूप नहीं होते हैं किंतु एकरूप होकर भी अनेक प्रकारके होते हैं। ऐसे पदार्थोंके अवग्रहादिक ज्ञानको बहुविध अवग्रहादि ज्ञान कहेंगे। जैसे बहुतसी दाल, बहुतसे चावल।

जो पदार्थ अनेक प्रकारके न होते हुए अनेक भेद रूप हों उनके ज्ञानको अबहुविध अवग्रहादि कहेंगे जैसे ततादि वाद्योंकी ध्वनिका ज्ञान।

जिन पदार्थोंका ज्ञान शीघ्र ही हो उसको क्षिप्र कहते हैं। और जिन पदार्थोंका ज्ञान देरसे हो वे अक्षिप्र कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादिक ज्ञान होता है। जैसे शब्दका ज्ञान शीघ्र ग्रहण होता है। और जिसके श्रोत्रेंद्रियकी कम क्षयोपशमशक्ति है वह देरमें शब्दोंको ग्रहण करता है।

अनिःसृत—पदार्थके समस्त स्वरूपका बोध न होकर असकल रूप ज्ञान (जितना अंश प्रकट है उतनेका ही ज्ञान हो) के होनेको अनिःसृत अवग्रहादि कहते हैं। और पदार्थके समस्त अवयवादिकके अवग्रहादिकको निःसृत अवग्रहादि कहते हैं। जैसे विस्तृत स्वरूपके

कहनेपर थोडा ज्ञान हो वह अनिःसृत है। और विशुद्ध क्षेत्रादि निमित्त मिलनेपर अल्प शब्दोंसे भी पदार्थके समस्त स्वरूपका बोध हो वह निःसृत है।

शब्दोंके उच्चारण करनेके प्रथम वाद्यादि तंत्रकी ध्वनिसे विना उच्चारण किये हुए भी पदार्थका ज्ञान करना सो अनुक्त ज्ञान है। और शब्दादिके उच्चारण करनेपर जो अवग्रहादि प्रकट हो वह उक्त अवग्रहादि ज्ञान है। जिसके प्रशस्त अभ्यास है और कर्मका क्षयोपशम विशेष होनेसे इंद्रियोंकी पदार्थ ग्रहण करनेकी शक्ति सातिशय है ऐसे मनुष्योंको उच्चारण किये विना ही पदार्थका बोध होता है। जिनके कर्मोंकी क्षयोपशम शक्ति स्वल्प है उनके स्पष्ट उच्चारण किये विना अवग्रहादि नहीं होता है।

जो पदार्थ यथावत स्थिर है ऐसे पदार्थका ज्ञान होना सो ध्रुव अवग्राहादि है।

विजली आदि चपल या तीव्रवेगवाले पदार्थोंका अवग्रहादि होना सो अध्रुव अवग्रह है।

इस प्रकार पदार्थके अवग्रहादि १२ भेद होते हैं। इन वारह भेदोंको ऊपर कहे हुए २४ भेदोंसे गुणनेपर दोसौ अठासी भेद २८८ मतिज्ञानके होजाते हैं।

इस प्रकार प्रकट पदार्थके २८८ भेदसे मतिज्ञान होता है।

अप्रकट पदार्थके एक अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं होते हैं। व्यंजनावग्रह मन और नेत्र इन्द्रियसे नहीं होता है। चार ही इन्द्रियसे होता है।

जैसे नवीन घड़ापर पानीकी दो तीन सूक्ष्म विंदु डालनेसे

व्यक्त नहीं होती हैं, परन्तु अधिकाधिक विंदुओंके पड़ने पर वह घड़ा जब आर्द्र होजाता है तब व्यक्त है। उसी प्रकार अव्यक्त रूप पदार्थोंके अवग्रहको व्यंजनावग्रह कहते हैं। इसके बह्वादि भेद होते हैं। और बह्वादि १२को चार इंद्रियोंसे गुणनेसे ४८ भेद होजाते हैं। ये अठतालीस भेद २८८ भेदोंके साथ जोड देनेसे मति ज्ञानके ३३६ भेद होते हैं।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिवोध ये पांच भेद मति ज्ञानके हैं। मति—पांच इंद्रिय और मनसे जो ज्ञान हो वह मति है। स्मृति—पूर्वकालमें अनुभव किये हुए पदार्थका अनुस्मरण करना याद करना, वह स्मृतिज्ञान है। जैसे पूर्वकालमें किसी एक मनुष्यको देखकर फिर कालांतरमें स्मरण कर यह कहना कि "यह वही है" इसप्रकार प्रतीतिजनक ज्ञानको स्मरण ज्ञान कहते हैं। संज्ञा—इसको प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। वर्तमान समयमें किसी वस्तुको देखकर और वैसी ही वस्तु पूर्वकालमें अनुभव की हो या देखी हो, उसके स्मरण होनेपर वर्तमान और पूर्वकालके जोडरूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह देवदत्त 'वही है जिसको हमने पूर्वमें देखा था। इस प्रत्यभिज्ञानके कितने ही भेद हैं। उनमेंसे विशेष ४ भेद हैं—एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान, तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान—जैसे किसी पुरुषको पूर्वमें देखा फिर कालांतरमें उसी पुरुषको देखकर पूर्व और वर्तमान पर्यायका जोड रूप एकत्वज्ञानको एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान—जैसे किसी मनुष्यने वनमें गवय नामका पशु देखा (जिसको

भाषामें रोझ कहते हैं) उसको देखकर ऐसा ज्ञान होना कि गायके समान ही है। इसप्रकार गायका स्मरण और गवयका दर्शन इन दोनोंका जोडरूप गायके सदृश ऐसी प्रतीतिवाले ज्ञानको सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान—जैसे किसी एक भैंसेको देखकर यह ज्ञान करना कि यह भैंसा बैलसे भिन्न है—विलक्षण है। इसप्रकार भिन्न प्रतीतिरूप ज्ञानको विलक्षण प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तत्प्रतियोगिप्रत्यभिज्ञान—जैसे किसी समीपवर्ती वस्तुको देखकर "यह उस वस्तुसे समीप है" ऐसा सामीप्यका प्रतिबोधक ज्ञानको तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसप्रकार इस प्रत्यभिज्ञानके अनेक भेद होते हैं। पूर्वका स्मरण और वर्तमान दर्शन दोनोंके जोडरूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। परंतु कितने ही इसको स्मृतिज्ञानमें अंतर्गत करते हैं सो ठीक नहीं है। क्योंकि स्मृतिज्ञानमें वर्तमानके दर्शनादिकी कुछ विशेष आवश्यक्ता नहीं है।

तर्क—को चिंता भी कहते हैं। कुछ विशेष चिन्हको देखकर कर उस चिन्हवाले पदार्थके सहयोग प्राप्त करनेवाले ज्ञानको तर्क कहते हैं। अथवा व्याप्तिज्ञानको तर्क कहते हैं। अन्वय और व्यतिरेक ज्ञानको व्याप्तिज्ञान कहते हैं, परन्तु ऐसे ज्ञानमें अन्वय या व्यतिरेक सर्व कालावच्छिन्न नियामक रूप व्याप्ति होनी चाहिये। चिन्ह (लक्षण) के होनेपर चिन्हवाला पदार्थ नियमसे है। इस प्रकारके विचाररूप ज्ञानको अन्वय कहते हैं और इस चिन्हके न होनेपर इस चिन्हवाला भी नहीं होगा इस प्रकार चिन्हके अभावमें चिन्हीका अभावरूप नियामक ज्ञानको व्यतिरेक कहते हैं। जैसे अग्निके होनेपर धूमका होना, और अग्निके अभावमें धूमका भी

अभाव मानना सो यह तर्क है। तर्क--ज्ञानमें ऐसा दृढ निश्चय करा देती है कि वह युक्ति अथवा प्रयुक्ति किसी भी कालमें किसी प्रकार भी अपने स्वभावको नहीं छोड सक्ती। जहां अग्नि होती है वहां ही धूम होता है। अग्निके अभावमें धूम नहीं हो सक्ता इसलिये अग्नि और धूमका कार्य कारण भाव नियामक रूप है। ऐसा कोई भी समय नहीं होगा कि धूम अग्निके विना उत्पन्न हो गया हो।

अभिनिबोध--अनुमान ज्ञानको कहते हैं। किसी विशेष लिंगको देखकर लिंगीकी सत्ताका निश्चय करना सो अनुमानज्ञान है। अथवा साधनसे साध्यका ज्ञान करना सो अनुमान है। साधनका अर्थ हेतु होता है। हेतु (कारण) से साध्यवस्तुका (कार्य) ज्ञान करना सो अनुमान है। जैसे इस स्थानमें अग्नि है क्योंकि यहांपर धूम है। इस प्रकार धूमसे अग्निका ज्ञान करना सो अनुमान ज्ञान है।

साध्य पदार्थ तीन प्रकार होता है, शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध। जो पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध रहित होगा वही शक्य है, क्योंकि जो प्रत्यक्षसे विरुद्ध प्रमाणित हो रहा है उसको अनुमानसे अन्यथा किस प्रकार सिद्ध कर सक्ते हैं, अथवा जिसमें साध्य होनेकी योग्यता ही नहीं है जैसे आकाशके फूल।

जो वादीको अभिप्रेत हो--प्रिय हो वह अभिप्रेत है। जो पूर्व किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध न हुआ हो वह अप्रसिद्ध है।

अन्यथानुपपन्नत्व कारणको हेतु कहते हैं। जो साधन अन्यथानुपपत्वरूप हेतुभूत नहीं है, वह साधन भी नहीं है। इसप्रकार संक्षेपसे मतिज्ञानका यह स्वरूप है।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान पूर्वक ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह श्रुतज्ञान समस्त वस्तुके भावोंका विचारजनक होता है। जैसे मतिज्ञानसे घट ऐसे शब्दको सुनकर घटसे होनेवाले कार्य और घटकी उत्पत्ति आदिका विचार रूप जो ज्ञान सो श्रुतज्ञन है। श्रुतज्ञानका विषय वहुत है। जितने पदार्थोंको केवलज्ञानवाला जीव जानता है उसके समान ही यह श्रुतज्ञान भी परोक्ष रूपसे जानता है। इस ज्ञानके समस्त भेद प्रभेद केवलज्ञानगम्य हैं। भावश्रुत और द्रव्य श्रुतज्ञान ये दो भेद श्रुतज्ञानके हैं।

श्रुतज्ञानके मुख्य अंगवाह्य और अंगप्रविष्ट ऐसे दो भेद हैं। अंगप्रविष्ट श्रुतके वारह भेद हैं। और अंगवाह्यके अनेक भेद हैं।

श्रुतज्ञानके उपर्युक्त विस्तारवाले भेदोंका स्वरूप यहांपर वर्णन ग्रन्थ वढजानेसे नहीं किया है। अन्य ग्रंथोंसे जान लेना चाहिये।

श्रुतज्ञानके संक्षेपसे चार भेद होते हैं। इन चारों भेदोंका स्वरूप दिङ्मात्र रूपसे यहां दिया जाता है।

प्रथमानुयोग—जिन शास्त्रोंमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण कामदेव, आदि पुण्य पुरुषोंके पवित्र चरित्र हों, सो प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोगके शास्त्रोंके पढनेसे भव्य जीवोंके जीवनचरित्रकी आत्मामें वहुत असर होती है। भव्य जीवोंको सबसे प्रथम: प्रथमानुयोगके शास्त्रोंको पढकर धर्म अधर्म, गुरु कुगुरु, देव कुदेव, पुण्य और पाप आदिकी परीक्षा करनी चाहिये।

जिसने प्रथमानुयोगके शास्त्रोंको विचारपूर्वक नहीं पढे हैं वे मनुष्य सत्य असत्य स्वरूपकी कसोटी नहीं कर सक्ते हैं। अरहंत ही सच्चे देव हैं, अन्य देव सच्चे क्यों नहीं ? इस विषयका निर्णय

तब ही कर सक्ते हैं जब कि उनके जीवन चरित्रोंकी सच्ची२ घटनायें जान ली जावें। प्रथमानुयोगके शास्त्रोंके विना मनुष्य सत्य२ घटनाका वृत्त जान ही नहीं सक्ता और उसके जाने विना कुछ भी निर्णय नहीं कर सक्ता है।

"सुखकी प्राप्ति जैन धर्मसे ही होती है" अन्यमतसे नहीं। इस बातका निर्णय भी तब ही हो सक्ता है जब कि वह प्रथमानुयोगके शास्त्रोंको पढ़कर यह विचार करे कि तीर्थंकरादि पुण्य पुरुषोंको सुखकी प्राप्ति कौनसे धर्मके धारण करनेसे हुई है। जबतक वह प्रथमानुयोगके शास्त्रोंको पढेगा ही नहीं तबतक उसके हृदयमें यह विश्वास किस प्रकार हो सक्ता है कि सुखकी प्राप्ति जैनधर्मसे ही होती है।

जो मनुष्य अपने आचरणोंको सुधार लेता है—आदर्श आचरण बना लेता है वह नीतिमान कहलता है। आदर्श चारित्रोंको धारण करनेके लिये सबसे प्रथम ऐसा कोई नमूना चाहिये जिसको देखकर मनुष्य आदर्श चरित्रवाला बने, क्योंकि संसारी जीव एक दूसरेके उत्तम आचरणोंको देखकर ही अनुकरण करते हैं। प्रथमानुयोगके शास्त्रोंके पढ़नेसे—पुण्य पुरुषोंके आदर्श चरित्रोंको पढ़कर मनुष्य सदाचारी बन जाता है। वैसे ही चरित्रका अनुकरण करने लगता है। इस लिये प्रथमानुयोगके शास्त्रोंसे आत्माके चारित्र तथा देव, गुरु, धर्म, पुण्य, पाप, सन्मार्ग, सुख, दुखके कारण आदि समस्त बातोंकी परीक्षा हो जाती है जिससे मनुष्योंका श्रद्धान सच्चे धर्मके धारण करनेमें दृढ हो जाता है। इस लिये इस योगको परीक्षात्माक योग कहते हैं। आचार्य महाराजने परीक्षात्मकं

शब्दका विशेषण देकर यह बतला दिया है कि जिसके प्रथमानुयोगके शास्त्रोंमें पूर्ण विश्वास है वह ही सच्चा परीक्षक है, श्रद्धानी है और जैन है तथा वह अपने जीवनचरित्रकी तुलना पुण्य पुरुषोंके जीवनके साथ कर अपने जीवनको अवश्य सुधार लेगा।

जो महाशय प्रथमानुयोगके शास्त्रोंको किस्सा कहानी कह कर मन गढंतकी बातें करते हैं वे महा मिथ्यात्वी हैं, श्री जिनेन्द्र भगवानके शासनके द्रोही हैं, पापी हैं। वे मलिन चरित्र अवश्य ही होंगे। प्रथमानुयोगके शास्त्र श्री जिनेन्द्रदेव प्रतिपादित हैं। सर्वज्ञ वीतराग भगवानके कहे हुए हैं। वे सब सत्य हैं, प्रमाणित हैं. और पूज्य हैं। उनमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये। और मिथ्या आवरण लगाकर अपने कर्मोंको न बांधना चाहिये।

चरणानुयोग—जिन शास्त्रोंमें मुनि-श्रावक आदिके आचरण करने योग्य चारित्रका वर्णन हो ऐसे शास्त्रोंको चरणानुयोग कहते हैं।

यद्यपि मनुष्य प्रथमानुयोगके शास्त्रोंके पढनेसे "चारित्र धारण करना चाहिये" ऐसा जान जाता है, परंतु चारित्र क्या है? किस प्रकार धारण करना चाहिये? चारित्र धारण करनेकी विधि कौनसी है? कौनसा चारित्र श्रावक धारण करते हैं? मुनि कौनसा चारित्र धारण करते हैं? आर्यिकाओंको मुनिका ही चारित्र धारण करना पडता है या अन्य? इत्यादि विशेष विवरण प्रथमानुयोगके शास्त्रोंमें नहीं होता इसलिये प्रथमानुयोगके शास्त्रोंके पढनेके बाद चरणानुयोगके शास्त्र ही पढना चाहिये।

चारों अनुयोगोंमेंसे चरणानुयोग गृहस्थोंके लिये विशेष उप-

योगी है। इस चरणानुयोगसे मनुष्य योग्य अयोग्य, कर्तव्य अकर्तव्य, भला बुरा, नीच ऊंच, हित अहित, नीति अनीति, सदाचार असदाचार, पाप पुण्य, सन्मार्ग और कुमार्ग आदिका ज्ञान संपादन करता है। आत्मगुणोंके विकाशके कारणोंको चरणानुयोग बतलाता है। हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और पापाचरणोंसे जीवोंको चरणानुयोग बचाता है।

भव्य और चरणानुयोगके शास्त्रोंका अभ्यासकर सदाचारी, पवित्र जीवनवाले और पुण्य पुरुष बन जाते हैं। जो जीव इस योगको धारण करते हैं वे नियमसे अपने स्वभावको (परमात्मपदको) प्राप्त होते हैं। इस योगका वर्णन करते समय आचार्यवर्यने "विचारस्वभावकः" विशेषण दिया है। इसका यह भी अर्थ होता है कि जो मनुष्य इस चरणानुयोगके शास्त्रको पढकर अपने आचरणको समुज्वल बनाता है तो वह पवित्र आचरणोंके असरसे अपने स्वभावको प्राप्त होता है—अपने स्वभावका विचारक हो जाता है।

बहुतसे अज्ञ मनुष्य आचरणशास्त्रको रूढियोंका घर बतलाकर चरणानुयोग शास्त्रकी उपयोगताको नहीं मानते हैं। सचमुच वे पाप और पापके कारणोंको जानते ही नहीं हैं। सदाचार क्या है ? और उससे कैसा लाभ होता है इस उद्देश्यके तत्वपर वे पहुंचे भी नहीं हैं।

करणानुयोग—जिन शास्त्रोंमें अधोलोक, मध्य लोक और ऊर्ध्वलोक आदि समस्त लोकोंका वृत्तान्त हो और जिसमें जीवोंके उत्पत्ति स्थान, मरण स्थान, आवागमन स्थान आदि समस्त वृत्तोंका वर्णन हो वे करणानुयोग शास्त्र हैं।

करणानुयोग शास्त्रोंके जाननेसे जीव पंच परावर्तनका स्वरूप जानता है, जीवोंकी उत्पत्ति स्थानोंको जानता है जिससे वह संसारसे भयभीत होकर समस्त जीवोंकी दया पालन कर सक्ता है। पंच परावर्तनका स्वरूप जाने विना संसारसे विरक्ति नहीं होती है और जीवोंके उत्पत्तिस्थान जाने विना यथार्थ दया नहीं पालन होसक्ती है, इसलिये इस योगके शास्त्रोंको पढ़कर आत्मकल्याण करना चाहिये।

इस योगके वर्णन करते समय आचार्य महाराजने "कारणात्मक" विशेषण दिया है। इससे यह अर्थ निकलता है कि लोकका स्वरूप जाननेसे अनादिकालसे परिभ्रमण करनेके कारणोंको जानकर जीव मोक्षमार्गके कारणोंको धारण करता है। इसलिये इस योगके शास्त्र मोक्ष मार्गकी सिद्धिके लिये कारणभूत हैं। इस योगको जानकर भव्य जीव अपना कल्याण अवश्य ही करते हैं।

द्रव्यानुयोग—जिन शास्त्रोंमें शुद्ध जीव-अजीव-धर्म-अधर्म-आकाश-काल आदि षट् द्रव्य, सात तत्व और नव पदार्थोंका वर्णन हो वे शास्त्र द्रव्यानुयोगके शास्त्र हैं।

इस योगसे जीव अपने शुद्ध स्वभावको जानता है। कर्म-कर्म वर्गणा, कर्म संबंध, कर्मास्रव, कर्मबंध आदि कर्मोंके स्वरूपको जानता है। अपने स्वरूपको पहिचानता है। पुद्गलसे अपनी भिन्नताको जानता है और इन सबको जानकर अपने असली स्वरूपको प्राप्त होता है।

इसप्रकार ये चार अनुयोग रूप श्रुतज्ञान है सो अनादि निधन है परन्तु अव्यक्त अवस्थामें श्री जिनेन्द्रदेवने इसको

व्यक्त किया है। इसलिये यह श्री जिनेन्द्रदेव प्रतिपादित है, सत्य है, अन्यथा नहीं है ;

अवधिज्ञान—

इस प्रकार संक्षेपसे श्रुतका वर्णनकर अब अवधिज्ञानका स्वरूप कहते हैं—

प्रत्यक्ष ज्ञानके अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ऐसे तीन भेद हैं।

अवधिज्ञान—जो रूपी पदार्थोंको द्रव्य क्षेत्र आदि मर्यादासे दूसरोंकी सहायता विना आत्माके द्वारा स्पष्ट जाने सो अवधिज्ञान है। अवधिज्ञानके गुण प्रत्यय और भवप्रत्यय अवधिज्ञान ऐसे दो भेद हैं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचोंको होता है और भव प्रत्यय अवधिज्ञान देव तथा नारकी जीवोंको होता है। जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन है उनको यह सम्यग् अवधिज्ञान होता है और जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन नहीं हुआ है उनको मिथ्या अवधिज्ञान होता है।

गुण प्रत्यय अवधिज्ञानके देशावधि, सर्वावधि और परमावधि ऐसे तीन भेद हैं।

देशावधिज्ञानके वर्द्धमान १, हीयमान २, अवस्थित ३, अनवस्थित ४, अनुगामी ५, अननुगामी इस प्रकार छह भेद हैं।

वर्द्धमान अवधिज्ञान—जिस समय मुनिको अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम तथा वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है उस समयसे मुनिके परिणाम संयमादि गुणोंसे जैसे २ विशेष समुज्वल होते जांय वैसे २ अवधिज्ञान भी अधिक २ शुक्ल चंद्रमाके समान बढता ही जाय, उसको वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।

हीयमान–जिस समय अवधिज्ञान जितना उत्पन्न हुआ है, फिर उससे कालांतरमें परिणामोंकी संक्लेशतासे कृष्णचंद्रमाके समान घटता ही जाय वह हीयमान है।

अवस्थित–अवधिज्ञान जितना द्रव्यक्षेत्र आदिकी मर्यादा लिये उत्पन्न हुआ फिर उस पर्यायमें न तो घटे ही और न बढ़े ही– जितना उत्पन्न हुआ है उतना ही नियमित रहे वह अवस्थित[1] अवधिज्ञान है।

अनवस्थित–जो अवधिज्ञान समुद्रकी वेलाके समान परिणामोंकी समुज्वलतासे बढ़ जावे और परिणामोंकी संक्लेशतासे घट जावे एकभवमें कितने ही वार हानि वृद्धि रूप हो सो अनवस्थित अवधिज्ञान है।

अनुगामी[2] अवधिज्ञानके क्षेत्र, भव, और उभयानुगामी ऐसे तीन भेद हैं। जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्रमें उत्पन्न हुआ है फिर वही अवधिज्ञान अवधिज्ञानी मुनिके साथ २ अन्यक्षेत्रमें साथ जाय सो क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान एक भवसे दूसरे भवमें साथ जाय–छूटे नहीं सो भवानुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान अन्यक्षेत्रमें तथा अन्य भवमें भी साथ २ जाय छूटे नहीं सो उभयानुगामी अवधिज्ञान है।

इसी प्रकार अननुगामी अवधिज्ञानके भी क्षेत्र, भव और उभयअननुगामी अवधिज्ञान ऐसे तीन भेद हैं। जो अवधिज्ञान अन्य क्षेत्रांतरमें साथ न जाय वह क्षेत्राननुगामी अवधिज्ञान है। जो

---

१ अवस्थित अवधिज्ञान उसी भवमें केवलज्ञानको उत्पन्न करता है।

२ अनुगामीका एक भेद यह भी कि जो केवलज्ञान पर्यन्त जाय।

अन्य भवमें साथ नहीं जाय सो भवाननुगामी अवधिज्ञान है। और जो क्षेत्र तथा भव दोनोंमें साथ २ नहीं जावे वह उभयाननुगामी अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञानके प्रतिपाती और अप्रतिपाती ऐसे दो भेद भी हैं। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर नियमसे केवल ज्ञानको उत्पन्न करे वह अप्रतिपाती है। यह सर्वावधि और परमावधि रूप है। सर्वावधिज्ञान तथा परमावधि ज्ञान चरम शरीरी तद्भव मोक्षगामी परम संयमी मुनिके प्रकृष्ट चारित्रकी समुज्वलतासे होता है, आर्यिका तथा श्राविकाके नहीं होता है। यह अवधिज्ञान नाभिके ऊपर शंख वज्र पद्म स्वस्तिक और कलश आदि शुभ प्रदेशों पर अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है।

यह अवधिज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवको ही उत्पन्न होता है व चारित्रधारक मुनिवरको ही उत्पन्न होता है।

देशावधिज्ञान[1] भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय उभयरूप होता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी और तीर्थंकर आदिके समस्त अंगसे होता है। गुण प्रत्यय देशावधिके भी छह अथवा आठ भेद होते हैं। भव प्रत्यय देशावधि अपने २ कर्मके विशेष या न्यून क्षयोपशमके कारणसे स्वल्प अधिक क्षेत्रादिकी मर्यादासे होता है।

देशावधिज्ञानका जघन्य क्षेत्र उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग है। और आवलीके असंख्यातवे भाग यह देशावधि ज्ञानका जघन्य काल है। अंगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रके प्रदेश प्रमाण

१.–देशावधि ज्ञानके द्रव्य क्षेत्रकाल भावका विशेष स्वरूप राज-वार्तिकसे जानना चाहिये।

द्रव्य यह जघन्य रूपसे द्रव्यका परिमाण है। उन परिमाणोंको व्याप्तकर असंख्यात् स्कंधमें अनंत प्रदेशात्मक ज्ञान रहता है। अपने विषयके जो स्कंध उनसे प्राप्त अनंत वर्णादि विकल्प रूप भाव होता है।

अवधिज्ञानके क्षेत्रकी मर्यादा—भव प्रत्यय अवधिज्ञान जो देव नारकी आदि जीवोंके होता है। उसके क्षेत्रकी मर्यादा इस प्रकार है। देशावधि ज्ञानवाले भवनवासी, व्यंतर तथा ज्योतिष देव पच्चीस योजन प्रमाणके क्षेत्रमें जान सक्ते हैं। यह जघन्य मर्यादा है। उत्कृष्ट असंख्यात योजन प्रमाण है। ऊपरके क्षेत्रमें अवधिज्ञान अपने विमानकी चोटी पर्यन्त ही जानता है, परन्तु नीचे तथा तिरच्छे क्षेत्रोंमें अधिक जानता है।

विमानवासी देवोंमें सौधर्म ऐशान स्वर्गके देवोंका जघन्य अवधिज्ञानका क्षेत्र संख्यात योजन प्रमाण है और उत्कृष्ट रत्नप्रभाके अंत तक है। सानत्कुमार तथा माहेन्द्र विमानके देवोंकी अवधिका जघन्यक्षेत्र रत्नप्रभा भूमि पर्यंत और उत्कृष्ट शर्कराके अंत पर्यन्त है। इस प्रकार बढते२ आरण और अच्युत सौलवें स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान जघन्यरूपसे पंकप्रभाके अंत पर्यन्त है और उत्कृष्ट धूमप्रभाके अंत पर्यन्त है। पांच अनुत्तरवासी अहमिंद्रोंका अवधिज्ञानका क्षेत्र लोकनाडी है। ये विमानवासी ऊपर दिशा तरफ अपने विमानके अंत पर्यन्त ही जानते हैं। अधःका विस्तार ऊपर कहा है और तिरछा क्षेत्र असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है।

नारकी जीवोंमें सातवें नरकमें योजन प्रमाण अवधिज्ञान

है। और पहले नरकमें एक कोश प्रमाण रह जाता है।

इस प्रकार भव प्रत्ययसे होनेवाले अवधि ज्ञानका क्षेत्र है। गुण प्रत्यय अवधि ज्ञानका जघन्यक्षेत्र अंगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रको विषय करता है। उत्कृष्ट देशावधि समस्त लोकके क्षेत्रको विषय करता है।

जघन्य परमावधि—का क्षेत्रका विषय एक प्रदेश अधिक लोकका क्षेत्र है। उत्कृष्टक्षेत्र असंख्यात लोक क्षेत्र प्रमाण है। मध्यमके असंख्यात भेद होते हैं वे सब परमागमसे जानने।

सर्वावधि ज्ञान—का क्षेत्र उत्कृष्ट परमावधिके विषयभूत क्षेत्रसे बाहिर असंख्यात क्षेत्र प्रमाण है। देशावधि और परमावधिके जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट ऐसे तीन भेद हैं। सर्वावधि एक प्रकार ही है।

तिर्यंचोंके उत्कृष्ट देशावधि ज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण असंख्यात द्वीप और समुद्र पर्यन्त है।

मनुष्योंके उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असंख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त है। काल जघन्यतासे आवलिकाके असंख्यावें भाग और उत्कृष्ट असंख्यात वर्ष पर्यन्त है। द्रव्यका प्रमाण जघन्य तो ऊपर कह चुके हैं। उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप और समुद्रोंके आकाशके प्रदेशोंके बराबर असंख्याती ज्ञानावरण आदि कार्मण वर्गणाओंसे कार्माण शरीरकी उत्पत्ति होती है। उस कार्माण शरीरका जितना प्रमाण है उतना मनुष्योंके उत्कृष्ट देशावधिका द्रव्य है।

उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र लोक अलोकका जितना परिमाण है उतने परिमाणवाले लोक हैं और वे लोक (असंख्यात लोक)

अग्नि कायके जीवोंकी संख्याके वरावर हैं।

सर्वावधिज्ञानका क्षेत्र परमावधिसे असंख्यात गुणा अधिक है।

अवधिज्ञानका द्रव्य कितना है। इस विषयका निरूपण ४ चार श्लोकमें आचार्य करते हैं—

अवधिज्ञानका द्रव्य जाननेके लिये सबसे प्रथम ध्रुवाहारका जान लेना आवश्यक है। क्योंकि ध्रुवाहारके जाने विना अवधि-ज्ञानके द्रव्यका परिणाम जान नहीं सके। ध्रुवाहारका स्वरूप—सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग मात्र है। तो भी अवधिका विपयभूत समयबद्धका प्रमाण जाननेके लिये कार्मण वर्गणाका गुणाकारका अनन्तवां भाग मात्र प्रमाण ग्रहण करना चाहिये। यह गुणाकारका प्रमाण उस प्रकार है। देशावधि ज्ञानका विषयभूत द्रव्यकी रचनामें उत्कृष्ट अन्तका भेदके विपयभूत कार्मण वर्गणाको एकवार ध्रुवाहा-रका भाग देनेसे जितना प्रमाण होता है उतना ही उसका विपय है। यह द्विचरम भेदका विपयभूत कार्मण वर्गणाका प्रमाण है। उसी प्रकार त्रिचरम भेदका विषय कार्मण वर्गणाको गुणाकार कर-नेसे चतुर्थ चरमभेद होगा। इसी प्रकार एक एकवार अधिक ध्रुव-हारकर कार्मण वर्गणाओंको गुणनेसे जो प्रमाण आता है उससे दो

१—यहांके चारों श्लोकोंका विशेषार्थ गोमट्टसारसे देखना चाहिये। यह विषय बहुत ही सूक्ष्म है। मैं अल्पज्ञताके कारण स्पष्ट रूपसे नहीं लिख सका और इस विषयमें आगम ही शरण है।

२—मनोवर्गणाके जितने भेद हैं उनमें अनतका भाग देनेसे एक भागका जितना परिमाण लब्ध हो उसको ध्रुवाहार कहते हैं। वह सिद्ध राशिके अनंतवे भाग प्रमाण है। अनुवादक।

क्रम देशावधिके द्रव्यभेद प्रमाण ध्रुवाहारनको परस्पर गुणाकार करनेसे जो गुणाकारका फल हो उसको कार्मण वर्गणासे गुणनेसे जो फल हो वही जघन्य देशावधि ज्ञानका विषयभूत लोककर विभाजित नोकर्म औदारिकका संचय मात्र द्रव्यका परिमाण जानना चाहिये। यह जघन्य रूपसे देशावधि अवधिज्ञानके द्रव्यका परिणाम है। इस प्रकार देशावधिका उत्कृष्ट द्रव्य प्रमाण जाननेके लिये गुणाकारके स्थानमें ध्रुवाहारका भाग देते रहना चाहिये। और वह कार्मण वर्गणाओंको भाग देते देते जब एकवार भाग जाय उतना ही परिमाण देशावधि ज्ञानके द्रव्यका उत्कृष्ट प्रमाण समझना चाहिये। मध्यके विकल्प बहुत हैं।

कार्मण वर्गणा राशिका प्रमाण सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग मात्र है। तो भी परमावधि ज्ञानके समस्त भेदोंमें दो संख्या मिलानेपर जो राशि उत्पन्न हो उतना ध्रुवाहारको रखकर परस्पर गुणनेसे जितना प्रमाण आवे वह परमाणुओंका स्कंधरूप कार्मण वर्गणाओंके परिणाम बराबर होगा क्योंकि कार्मण वर्गणाको एकवार ध्रुवाहारका भाग देनेसे उत्कृष्ट देशावधिका विषयभूत द्रव्यका प्रमाण आता है और परमावधिके जितने भेद हैं उतनी वार ध्रुवाहारका भाग देनेसे उत्कृष्ट परमावधिके द्रव्यका विषय होगा। और उसको एकवार ध्रुवाहारका भाग देनेसे एक परमाणु मात्र सर्वावधिका विषय होगा।

अग्नि कायके अवगाहनाके जितने भेद होते हैं उन सबको अग्निकायके जीवनके परिमाणके साथ गुणनेसे जो परिमाण लब्धि (फल) रूप आवे वह परिमाण परमावधि ज्ञानके विषयभूत

द्रव्यका भेद है। अग्निकायकी जघन्य अवगाहनाके प्रदेशके परिमाणको अग्निकायकी उत्कृष्ट अवगाहनाके परिमाणमेंसे घटानेसे जो फल आवे उसमें एक संख्या मिलानेसे अग्निकायकी अवगाहनाके भेदका परिमाण होता है। इनको परस्पर गुणनेसे वह परमावधि ज्ञानका विषयभूत द्रव्यका परिणाम, रूप है।

भावार्थ-मध्यम योगके परिणमनसे उत्पन्न हुआ नो कर्म रूप औदारिक शरीरका संचय (द्व्यर्द्धगुणहानिसे औदारिकके समय प्रबद्धको गुणनेसे जो फल आता है वह औदारिक शरीरके सत्तारूप द्रव्य होता है वह अपने योग्य विस्रसोपचयके परमाणुओंके संयुक्त लोक प्रमाण असंख्यातका भाग देनेसे जो एक भाग मात्र द्रव्यका परिमाण आता है) वही द्रव्य जघन्य अवधिज्ञानका विषयभूत है, इस अल्प स्कंधको नहीं जानता है। क्योंकि जघन्य योगसे उत्पन्न हुए संचय वे इससे सूक्ष्म होते हैं इसलिये देशावधि जघन्य द्रव्यवाला जानता नहीं है, उनसे स्थूलको तो जानता ही है। इसलिये मध्यम योगसे उत्पन्न हुआ औदारिक शरीरके संचयको ग्रहण किया है और देशावधिका उत्कृष्ट द्रव्य कार्मण वर्गणाको एकवार ध्रुवाहारका भाग देनेसे जितना लब्धांक (फल) आता है उतने ही परमाणुओंके स्कंधको जानता है। ये दोनों ही पुद्गल स्कंध नेत्र इंद्रियके प्रत्यक्ष नहीं होते हैं उनको अवधिज्ञान जानता है।

सर्वावधिनिर्विकल्प है उसके भेद प्रभेद नहीं है, क्योंकि उसका विषय परमाणु भी निर्विकल्प है और यह अन्त चरम शरीरीको ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार संक्षेपसे अवधिज्ञानका स्वरूप है, विस्तारसे गोमट्टसारसे जानना चाहिये।

मनःपर्ययज्ञान—

मनःपर्यय ज्ञानका स्वरूप—जो ज्ञान मनुष्य तिर्यंच आदि जीवोंके मनोगत मूर्तमान पदार्थोंको जाने वह मनःपर्यय है। मनसे जिन पदार्थोंका अतीत कालमें चितवन किया हो अथवा अनागत कालमें (भविष्यकालमें) जिसको चिंतवन करेगा अथवा जो अर्द्ध चिंतित हैं, पूर्ण रूपसे चिंतवन नहीं किया है और जो वर्तमान कालमें चिंतवन कररहा है, इस प्रकार अनेक प्रकारसे अन्य जीवोंके मनमें स्थित पदार्थको जो जाने सो मनःपर्यय ज्ञान है। यह ज्ञान मनुष्य पर्याय सिवाय अन्य पर्यायमें नहीं होता है।

मनःपर्यय ज्ञानके ऋजुमती और विपुलमती ऐसे दो भेद हैं। ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानके तीन भेद (विषयोंकी अपेक्षासे हो जाते) हैं। जो दूसरेके सरल मन १, सरल वचन २ और सरल काय ३ से उत्पन्न हुए अन्य जीवोंके मनमें चिंतवन किये हुए अर्थको जाने सो ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है। विपुलमतिके छह भेद (विषयोंकी अपेक्षासे होजाते हैं) हैं। जो दूसरेके सरल मन, सरल वचन, सरल काय, तथा वक्र मन, वक्र वचन, और वक्रकायसे उत्पन्न हुए और अन्य जीवके मनमें चिंतवन किये हुए पदार्थोंको जाने सो विपुलमती मनःपर्यय ज्ञान है।

त्रिकाल संबंधी सरल मन अथवा वक्र मनसे चिंतवन पदार्थोंको मनःपर्यय ज्ञानवाला जानता है। चाहे वह कहे या न कहे तो भी मनःपर्ययज्ञानी सबके मनके अर्थको जानता है। ऋजुमती त्रिकाल संबंधी पुद्गल द्रव्योंको वर्तमान कालमें चिंतवन कियेको ही

जानता है, परंतु विपुलमती अतीत या अनागत कालमें चिंतवन किये अथवा आगे चिंतवन होनेवाले त्रिकालवर्ती पुद्गलोंको जानता है।

ऋजुमतीका जघन्य क्षेत्र पृथक्त्व–कोश प्रमाण है। यह दो तीन कोशके बराबर क्षेत्र प्रमाण होगा। उत्कृष्ट क्षेत्र योजन पृथक्त्व प्रमाण है। यह सात–आठ कोश प्रमाण होगा। विपुल मतिका जघन्य क्षेत्र तीन योजनके ऊपर और आठ योजनके अभ्यन्तर जानता है। उत्कृष्ट मानुषोत्तर पर्वतके आभ्यंतर ही जानता है।

ऋजुमतीका काल–दो तीन भवोंकी बात जानता है और उत्कृष्ट अपने या अन्यके आठ सात भव जानता है। विपुलमती जघन्यतासे सात-आठ भव और उत्कृष्टतासे असंख्यात भवोंको जानता है।

सर्वावधि ज्ञानके विषयसे अनन्तवें भाग ऋजुमती मनः पर्यय ज्ञानका विषय है और उससे अनंतवें भाग पर्यन्त विपुलमती जानता है।

ऋजुमती प्रतिपाती है–केवल ज्ञानको उत्पन्न नहीं भी करे परन्तु विपुलमती अप्रतिपाती है। जिसको विपुलमती मनः पर्ययज्ञान होता है वह नियमसे केवलज्ञानका भागी होता है।

यह मनःपर्ययज्ञान आठ पांखुण्डीका द्रव्य कमलके प्रदेशपर स्थित मनः पर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है।

जिस मुनीश्वरको सात ऋद्धियोंमेंसे कोई एक ऋद्धि प्राप्त हो गई हो, ऐसे परम संयमी मुनीश्वरको यह मनः पर्ययज्ञान होता है। उसके धारणवाले मुनीश्वरका चारित्र परम उज्वल होता है।

केवलज्ञान—

केवलज्ञानका स्वरूप—समस्त ज्ञानावरणी कर्मके समूल नाश होनेपर जो लोक अलोक तथा समस्त द्रव्य और त्रिकालवर्ती उसकी अनंतानंत पर्यायोंको एक साथ आत्माद्वारा स्पष्ट जो ज्ञान जानता हो वह केवलज्ञान है ॥ ३२ ॥ यह ज्ञान असहाय है, अतीन्द्रिय है और समस्त प्रकारके आवरणोंको समूल नाशकर उत्पन्न होता है ।

सम्यग्ज्ञानसे ही तत्वोंका निश्चय होता है । सम्यग्ज्ञानके विना तत्व जाने ही नहीं जाते हैं । तत्वोंकी सत्यता एवं प्रमाणिकता सम्यग्ज्ञानसे ही होती है । इसलिये सम्यग्ज्ञान परम आराधन करने योग्य है ।

तत्वज्ञानकी प्राप्ति विना कर्मोंका नाश नहीं होता है । और कर्मोंके नाश विना मोक्षसुखकी प्राप्ति नहीं होती है । इस लिये सम्यग्ज्ञानको ही शिवसुखका मूल कारण समझकर धारण करो ।

ज्ञानकी समग्ज्ञानता सम्यग्दर्शनसे ही होती है । सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है । इस लिये सम्यग्दर्शनको धारणकर सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करो ।

सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि जिनागमके शास्त्रोंके पठन पाठनसे होगी इसलिये जिनागमका अभ्यासकर सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करो ॥३३॥

संसारमें अनंत ज्ञानी हैं, परंतु ऐसे ज्ञानियोंको ज्ञानी नहीं किंतु अज्ञानी ही कहते हैं । ज्ञानीकी महिमा ऐसी है कि वह अपने कर्मोंको शीघ्र ही नाश कर सक्ता है । अज्ञानी मनुष्य घोर

तप और दुर्द्धर चारित्रको धारणकर जितने कर्मोंकी अनेक भवमें निर्जरा करे, ज्ञानी उतने कर्मोंकी निर्जरा क्षण मात्रमें कर सक्ता है। ज्ञानी ही परमात्मपदको प्राप्तकर अविचल सुखका भागी होता है। परंतु अज्ञानी संसारमें परिभ्रमणकर अनंत दुःखोंको ही प्राप्त करता है। ज्ञानी कर्म बंधनको तोड़कर स्वतंत्र होसक्ता है परन्तु अज्ञानी कर्मबंधनोंसे अत्यन्त परतंत्र ही होता जाता है। इस लिये हे भव्य जीवो! मिथ्या शास्त्रोंको पढकर अज्ञानी मत वनो। अपने श्रद्धानको मलिन मत करो। मिथ्या शास्त्रोंसे तत्वका निश्चय कभी नहीं होगा और न आत्माका कल्याण ही होगा इसलिये जैनागमको ही सम्यग्ज्ञानका कारण समझकर पढो पढाओ और सर्व जगतमें प्रचार करो, क्योंकि सम्यग्ज्ञानके विना तत्वोंका निश्चय नहीं होता है। तत्वोंके निश्चय विना कर्मोंका नाश नहीं होता है। कर्मोंके नाश करे विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये सबका मूल कारण सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करना है। जैसे मनुष्य पुण्यके विना सद्गतिका पात्र नहीं होता है। वैसे ही सम्यग्ज्ञान विना मनुष्य सद्गतिका पात्र नहीं होसक्ता है। जो मनुष्य अपनी सद्गति होना चाहते हैं उनको सर्व प्रयत्नोंसे सम्यग्ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य सम्यग्ज्ञानसे विभूषित है उसको तत्वोंकी प्राप्ति होना कोई कठिन वात नहीं है। वह अपनी उसी पर्यायमें कर्मोंका नाश करे इसमें भी कुछ आश्चर्य नहीं है। उसको मोक्ष-

१—सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति जैनागमकी श्रद्धा करनेसे होती है। जो मनुष्य जैनागमका पठन पाठन स्वाध्याय और अभ्यास करते हैं उनको शीघ्र ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है।

रूपी लक्ष्मीका तत्काल ही समागम होजाय इसमें भी कुछ विचित्रता नहीं है ॥ ३६ ॥

जो सम्यग्ज्ञानसे विभूषित है वह चाहे गरीब है अथवा नीच है तो भी गुणोंमें सर्वोपरि है और जो सम्यग्ज्ञानसे रहित है वह चाहे धन आदि संपत्तिसे महान् क्यों न हो अथवा महान उच्च कुलमें जन्म लेनेवाला कुलीन ही क्यों न हो परन्तु वह सर्व गुणोंसे रहित अज्ञानी है। इस लिये सम्यग्ज्ञानको धारणकर समस्त गुणोंसे अपनी आत्माको भूषित करो।

इति श्रीमद्गुणभूषणाचार्य विरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधान श्रावकाचार साधु नेमदेवनामांकिते सम्यग्ज्ञानवर्णनं द्वितीयो निर्देशः ॥

तृतीय अध्याय।

सम्यक्चारित्रका स्वरूप।

शुभ आचरणों (अहिंसा-सत्य-अचौर्य आदि रूप) को धारण कर अशुभ आचरणों (जिन आचरणोंको धारण करनेसे आत्मामें राग द्वेषकी प्रवृति हो। अथवा हिंसादि पंच पापोंकी प्रवृत्ति हो) से निवृत्त होना सो सम्यक् चारित्र है। इस चारित्रके सकल चारित्र और विकल चारित्र इस प्रकार दो भेद हैं। सकल चारित्रको समस्त प्रकारके परिग्रहसे रहित परम निर्ग्रन्थ मुनीश्वर धारण करते हैं। और विकल चारित्रको गृहस्थ धारण करते हैं। मुनिके चारित्रको सकल चारित्र और गृहस्थोंके चारित्रको विकल चारित्र कहते हैं॥ १॥

इस ग्रंथमें विकल चारित्रका ही वर्णन है। विकल चारित्र-पात्रोंकी अपेक्षासे अनंत भेद रूप है। परंतु उन सब भेदोंका पाक्षिक-नैष्ठिक और साधक इन तीन भेदोंमें अंतर्गतपना होजाता है इसलिये पात्र तीन प्रकार हैं। पाक्षिक श्रावकका विशेष वर्णन ग्रंथकारने नहीं किया है तो भी जिस भव्य जीवके पवित्र अंतःकरणमें श्री जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाकी दृढ़ श्रद्धा है-अविचल विश्वास है, ऐसा भव्य जीव पाक्षिक श्रावक होनेका पात्र है। जिनाज्ञा धारण करनेके साथ २ पाक्षिक श्रावकको आठ मूल गुण अवश्य ही धारण करना चाहिये। क्योंकि मूल गुण धारण किये बिना बाह्य आचरणोंमें समुज्वलता प्राप्त नहीं होती है। और न यह मालूम होता है कि यह पाक्षिक श्रावक ही है।

सबकी परीक्षा बाह्य आचरणोंसे ही होती है इस लिये सबको अपने अपने पदके योग्य आचरणोंको नियम पूर्वक पालन करना चाहिये। परन्तु जिन जीवोंके बाह्य आचरण पाक्षिक या नैष्ठिक श्रावकके हैं और जिनाज्ञाकी दृढता नहीं है तो वह मिथ्यात्वसे पूरित है। जिनाज्ञाको धारण करनेके साथ २ बाह्य आचरणोंको पालन करने-वाला गृहस्थ जैनधर्मका पात्र समझा जाता है। बाह्य आचरण रहितके जिनाज्ञा है इसका कुछ भी प्रमाण नहीं होनेसे वह अव्यक्त पात्र है ॥१॥ पाक्षिक श्रावकका विशेष वर्णन ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये। नैष्ठिक श्रावकके दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास सचित्त त्यागी, दिवा मैथुन त्यागी, ब्रह्मचारी, आरंभ त्यागी, परिग्रह त्यागी, अनुमति त्यागी और उद्दिष्टाहार त्यागी ऐसे ग्यारह भेद हैं ॥ २-३ ॥

दर्शन प्रतिमाका स्वरूप—

जो भव्यजीव पांच उदंबर-(वडफल, पीपलका फल, ऊंमर, कठूमर और पाकर फल इन पांच फलोंको उदंबर पंचक कहते हैं। इनमें साक्षात् त्रसजीवोंका संचय प्रत्यक्ष दिखलाई देता है।) और सात व्यसनोंका त्याग करता है वह दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक है। इससे यह सिद्ध होता है कि दर्शनिक प्रतिमाके प्रथम ही मद्य मांस और मधुका त्याग होजाता है। अर्थात् पाक्षिक श्रावकके मद्य मांस और मधुका ही त्याग होता है ॥४॥ पांच उदंबर फलोंमें जीवोंका समूह प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है और आगम प्रमाणसे भी ये पांच जातिके फल सूक्ष्म तथा स्थूल जीवोंसे सर्वत्र परिपूर्ण भरे हुए हैं (इनमें ऐसा कोई भाग नहीं है जो जीवोंकी पर्यायसे पूर्ण

न हो ।) इस लिये इन पांच जातिके फलोंका यावज्जीव पर्यंत ही त्याग करना चाहिये। असलमें मद्य मांस और मधु तथा पांच उदंबर फलोंका यमरूप त्याग होता है। जिनके इन आठ वस्तुओंका याव-ज्जीव पर्यंत त्याग नहीं है वे जैनधर्मको धारण करनेके पात्र नहीं हैं— ऐसे मनुष्योंको जैनी कहना या पाक्षिक अथवा नैष्ठिकके आभ्यंतर गणना तो दूसरी बात है परंतु ऐसे जीव जैन धर्मको धारण कर-नेके पात्र तक नहीं हैं* ॥ ५ ॥

द्यूत—जूआ (जुगार), मधु, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री ये सात व्यसन हैं। संसारमें ये सात सबसे भयंकर पाप हैं। ये पाप ऐसे हैं कि एकबार भी इनका सेवन कर लिया जावे तो फिर ये बड़ी कठिनतासे छूटते हैं, इसीलिये इनको व्यसन कहते हैं। इनके सेवन करनेसे जीव ऐसा मोही हो जाता है कि कठिन प्रयत्न करनेपर भी इनको छोड़ नहीं सक्ता। ये समस्त पापोंकी खानि हैं ॥ ६ ॥

---

*यावज्जीवमिति त्यक्त्वा पंचोदुंबरपूर्वकान् ।
जिनधर्मं श्रुतेर्योग्यः......................॥

भावार्थ—जब तक पांच उदंबर फल और मद्य मांस मधुका त्याग अपने जीवन पर्यन्त (यम रूप) नहीं किया जाय तब तक जैन धर्मको श्रवण करनेका पात्र नहीं है। इन आठ वस्तुओंके त्यागको आठ-मूलगुण कहते हैं। जब तक मूलगुणका पालन नहीं है तबतक वह श्रावक नहीं है। बहुतसे मूर्ख इन आठ वस्तुओंके त्यागका विशेष नियम नहीं बतलाते हैं वे आगमकी मर्यादासे भूले हुए हैं।

द्यूत विचार—

द्यूत—(जूआका खेलना जिसको जुगार भी कहते हैं) का खेलना सब पापोंसे बढ़कर पाप है। सातों व्यसनोंमें यह मुख्य है। यह ऐसा व्यसन है कि एक इसको सेवन करनेसे सातों ही व्यसन सेवन करने पड़ते हैं। जो मनुष्य जूआ खेलते २ हार जाय तो वह चोरीकर द्रव्य लायेगा इसलिये जूआ खेलनेवाले प्रायः चोरी करते ही हैं ऐसा प्रत्यक्ष सबको अनुभव है। कदाचित जूआ खेलनेमें जीत हो जावे तो बहुत धन वेश्यासेवन या परस्त्रीसेवनमें जायगा। जो मनुष्य वेश्याका सेवन करता है वह मद्य मांसको अवश्य ही सेवन करता है। इस प्रकार एक जूआके खेलनेमें सातों व्यसन होते हैं। जूआ खेलनेवालेमें लोभकी मात्रा सबसे अधिक होती है इसलिये हार जानेपर भी पुनः पुनः जूआ खेलता है और जीतनेपर अधिक तृष्णामें पड़कर अधिकाधिक जूआ खेलता है। इस प्रकार जूआ खेलनेसे मनुष्य मोहसे बेभान होजाता है। जूआ खेलनेवालोंको झूंठ बोलनेकी तथा क्रोध करनेकी आदत पड़ जाती है इसलिये जूआके त्याग करनेवालोंको झूंठ बोलनेका भी त्याग करना चाहिये तथा क्रोध करना, गाली देना, द्वेष करना, मारपीट करना, चोरी करना और आलस्य करनेका त्यागकर देना चाहिये।

जूआ खेलना बड़ा पाप है इस पापके सेवन करनेवाले जूआरी प्रत्यक्ष ही अपनी धन दौलतको नाशकर अपमानके साथ निंद्य जीवन व्यतीत करते हैं। प्रत्येक मनुष्य जुआरीका तिरस्कार कर देता है। तांस, चोसर आदिकी बाजी खेलना यद्यपि जूआ नहीं है तो भी इनसे जूआका खेलना सीखा जाता है और जूएके

खेलनेमें जैसे परिणाम क्रोधादि विकारोंसे मलिन होते हैं वैसे ही इनसे भी मलिन हो जाते हैं। इसलिये तांस, गंजीफा, चोसर आदिका-हार-जीतका खेलका परित्याग कर देना चाहिये।

जूआ खेलनेवालेके परिणाम सदैव आर्त और रौद्र ध्यान सहित अत्यंत क्रूर वने रहते हैं। उनका विचार सदा मलिन ही वना रहता है इसलिये जूआका परित्याग कर देना सवसे अच्छा है। सट्टेका व्यापार भी एक प्रकारका जूआ है। सट्टेके व्यापार करनेसे भी परिणामोंमें सदा दुर्ध्यान ही बना रहता है इसलिये जूआका त्याग करनेवालोंको सट्टेका व्यापार नहीं करना चाहिये।

जुआ खेलनेवाले पांडवोंकी कथा।

पाण्डवोंने जूआ खेला था, पाण्डव महान् पुण्य पुरुष थे, महाविक्रमशाली राजा थे, उनके गुणोंसे समस्त संसार उनके वश थे, पाण्डवोंके सवसे वड़े भाई युधिष्ठर परम धर्मात्मा और सत्य-वक्ता थे, अर्जुन भीम आदि भाई जगद्विजयी थे परन्तु जूआके व्यसनसे कितने दुःखके पात्र हुए। पाण्डव जूआमें सव राज्य हार गये और द्रौपती सतीको भी हार गये। हा! ऐसे पुण्यशाली और परमसाहसी पुरुषोंकी जूआसे कैसी अधम अवस्था हुई यह वात किसीसे छिपी नहीं है। जूआ खेलनेके कारण पाण्डवोंको राज्य भ्रष्ट होना पड़ा, लाखके ग्रहमें जलना पड़ा और वन२ में भ्रमणकर वड़े कष्टसे अपने जीवनको दुःखमय व्यतीत करना पड़ा। जूआ खेलनेसे पाण्डवोंका राज्य ही नहीं गया किन्तु प्रतिष्ठा (इज्जत) और मान मर्यादा सव लोप हो गई। जूआ खेलनेके कारण जैसा अपना अपमान पांडवोंने सहन किया वैसा कोई भी

सहन नहीं कर सक्ता है । इस प्रकार जूआ खेलनेसे जब पांडव जैसे महान् पुरुषोंकी यह दशा हो गई तो साधारण मनुष्य क्यों नहीं दुःखको प्राप्त होते होंगे । जुआरियोंको कितने दुःख प्राप्त होते हैं यह सबको प्रत्यक्ष है । कितने ही घर जूआ खेलनेके कारण बरबाद हो गये । कितने ही मनुष्य जूआ खेलनेके कारण तिरस्कारके पात्र हुए । अपनी धन दौलतको नष्टकर खाने पीनेसे भी दुःखी हुए और कितने ही जूआके कारण दुःखी हो रहे हैं । इसलिये जूआ खेलना (द्यूत व्यसन) छोड़ देना चाहिये ।

मद्यपान विचार—

मद्य शराब (दारु) को कहते हैं । शराब कितने ही पदार्थोंको सडाकर बनाई जाती है जिससे उसमें अनंत जीवोंका वध होता है । इतना ही नहीं किंतु शराबका स्वाद कुछ मधुर है । इस मधुरताके कारण बहुतसे जीव ' जिनका शराब ही शरीर है ' उत्पन्न होकर निरंतर मरते ही रहते हैं—जीवोंके कलेवरमय शराब होती है इसप्रकार शराबके पीनेमें बहुतसे जीवोंकी हिंसा होती है। एक हिंसाके कारण शराब पीनेका निषेध आचार्योंने नहीं किया है किंतु शराबसे पीनेमे मनुष्य मदोन्मत्त होजाता है जिससे वह अपने आत्मीक गुणोंको भूल जाता है । भूल ही नहीं जाता किंतु उन्मादताके कारण उनका घातकर देता है, सच्चरित्रको भी भूल जाता है, इसलिये मद्य पीनेका निषेध आचार्योंने बतलाया है । मद्य पीनेवाले मदोन्मत्त हुए प्रत्यक्षमें ही दीखते हैं । मान मर्यादा रहित दुःखोंको सहन करते हुए प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हैं। शराबका पीना व्यसन ही नहीं, किंतु आत्माके उज्वल गुणोंको घात करनेवाला सबसे भयंकर

पाप है। मद्यके पीनेसे पद २ पर अपमान होता है, धनसंपत्ति नष्ट हो जाती है और परस्त्री सेवन करना आदि पापाचरण इस व्यसनके सेवन करनेसे हो जाते हैं। शराव पीनेवाले पुरुषोंके मुंहमें कुत्ता भी मूत जाय तो भी ज्ञान नहीं होता है—शरावी मनुष्य वेभान अवस्थामें जहां तहां गिर जाते हैं और दुःखोंको प्राप्त होते हैं।

शरावको त्याग करनेवालोंको भांग, गांजा, चरस, तंबाखू और कैफी (मादक वस्तु) चीजोंका पीना छोड देना चाहिये, क्योंकि इनसे आत्माके गुणोंका घात होता है शारीरिक तथा मानसिक शक्ति नष्ट होजाती है।

शरावके पीनेसे—पाद नामक ब्राह्मणकी कैसी गति हुई ? उसकी कथा यह है—

शराव पीनेवाले पादब्रह्मचारीकी कथा।

भारतवर्षमें चक्रपुर नामक एक नगर है। यह नगर प्राचीन समयमें अत्यंत शोभित था। इस नगरमें अनेक विद्याके पारगामी वहुतसे विद्वान् रहते थे। वहांपर एक पाद नामका ब्राह्मण भी रहता था। पाद समस्त वेद शास्त्रोंको जानता था और धर्म शास्त्रको भी जाननेवाला पंडित था। एक समय पाद ब्राह्मणने किसी कार्यके लिये अन्य ग्राममें जानेका विचार किया। और थोडासा उपयोगी सामान लेकर अन्य ग्रामको गया। मार्गमें एक वन आता था सो जव यह ब्राह्मण उस वनमें पहुंचा तव वनमें कुछ भील लोग तथा एक चांडालिनी शराव पीकर नांचते हुए मिले। लोगोंने उस ब्राह्मणसे कहा कि पंडितजी महाराज ! आप आगे नहीं जाइये, जो आपने जरा भी आगेको अपना पैर वढाया कि

तत्काल मारे जाओगे। आप इन तीन बातोंमेंसे जो आपको पसंद हो, उसको सेवन कर आगे जाना हो तो भले ही जाइये। अन्यथा आप जा नहीं सक्ते। वे तीन बातें यह हैं कि–मांसका भक्षण कर लेवें, या शराब पी लेवें अथवा इस चांडालिनीके साथ विषय-सेवन कर लेवें। अब बतलाइये कि आपको इन तीनोंमेंसे कौनसी बात प्रिय है?

भील लोगोंकी यह बात सुनकर पंडितजी अपने मनमें विचारने लगे कि "शास्त्रोंमें तिल मात्र भी मांस खानेसे घोर नरकमें जाना पडता है। महाभारतमें कहा है कि "तिल सर्षपमात्रं हि मांसं खादंति ये द्विजाः। तिष्ठंति नरके घोरे याव-चन्द्रदिवाकरौ॥" अर्थात् एक तिल या सरसों मात्र मांस खानेसे नरकके दुःख सहन करने पडते हैं। इसलिये मांस तो मैं किसी प्रकार भक्षण नहीं कर सक्ता। चांडालिनी परस्त्री है उसको सेवन करनेसे भी नरकके दुःख सहन करने पडते हैं। महाभारतमें कहा है कि "यः परस्त्रीं सुसेवेत स याति नरके ध्रुवम्" जो परस्त्रीको सेवन करता है वह नरकमें सड़ता है इसलिये मैं परस्त्रीको सेवन नहीं कर सक्ता। फिर यह तो चांडालिनी है इसको किस प्रकार सेवन करूं? हां शराब काष्टसे बनती है, इसके सेवन करनेमें कुछ भी पाप नहीं है, ऐसा विचार कर उस ब्राह्मणने कहा कि हे भाइयो! आप नहीं मानते तो मैं शराब पी लेता हूं। ऐसा कहकर उस ब्राह्मणने शराब पी ली। शराबके नशेमें आकर उस चांडालिनीको भी सेवन किया और भूख लगनेपर सबके साथ मांस भी भक्षण किया। देखो एकवार शराबके पीनेसे विद्वान् ब्राह्मणकी

कैसी अवस्था हुई। जबसे भारतमें शराब पीनेका अभ्यास पश्चिम देशोंके मनुष्योंकी देखादेखी बढ़ा है तबसे भारतके पढ़े लिखे ज्ञानी मनुष्य भी असदाचारमें तल्लीन होगये हैं। विलासताकी इतनी वृद्धि हो गई है कि बहिन, माता और बेटीके साथ भी मनुष्य दुराचार करनेमें लज्जित नहीं होते हैं। इसलिये शराब पीनेका परित्याग करना चाहिये।

मधुका विचार—

मधु मद या शहतको कहते हैं। शहत अनेक प्रकारका होता है, तो भी माखियोंका शहत सर्वत्र प्रसिद्ध है। मदको माखियोंके अंडे बच्चे और उनके शरीरोंका मांस निचोड़कर निकालते हैं जिससे हजारों जीवोंकी घोर हिंसा होती है। उस हिंसाके भागी उसको भक्षण करनेवाले ही हैं। शहतमें मांसका अंश अवश्य ही रहता है। शहत माखियोंके वमन आदिसे उत्पन्न होता है इसलिये अपवित्र भी है। इसमें मधुरता है इसलिये अनंत सूक्ष्म जीव इसमें निरन्तर उत्पन्न होते ही रहते हैं। एक बिंदु शहतमें असंख्यात जीव हैं। ऐसे शहतको कौन विद्वान् भक्षण कर हिंसाका भागी बनेगा, कितने ही आचार्योंका अभिमत है कि एक मधु बिंदुमें असंख्यात जीवोंका वध होता है। इसलिये मधुका भक्षण सर्वथा करना ही नहीं चाहिये।

मधु भक्षण करनेसे कितने ही जीव नरकादि दुर्गतिमें गये हैं और जाते हैं। एक सेठने अपनी बिमारीकी अवस्थामें ही मधु भक्षण किया था परन्तु उसके भक्षणके फलसे वह दुर्गतियोंका पात्र हुआ। मांस भक्षण करनेमें जितने दोष प्रत्यक्ष सबको होते देखते

हैं उतने ही सब दोष मधु भक्षण करनेवाले जीवोंको होते हैं, इसलिये मधुका भक्षण करना सर्वथा ही निषिद्ध है ।

मांसका विचार—

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय जीवोंके शरीरको मांस कहते हैं । एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरको मांस नहीं कहते हैं और वह मांसरूप नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवके शरीरमें रक्त, मांस, पीप आदि विकारी पदार्थ नहीं हैं । जैसे दो इन्द्रिय जीवके शरीरको जलानेसे दुर्गन्ध उत्पन्न होती है ऐसे एकेन्द्रिय जीवके शरीरमें नहीं होती है ।

कोई ऐसा समय नहीं है कि मांसमें जीव उत्पन्न न होते हों । मांसमें जीवोंकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष दीखती है तो भी ऐसे सूक्ष्म जीव जो नेत्रोंसे नहीं दीखते हैं निरन्तर उत्पन्न होते ही रहते हैं । मांस जीवोंका वध किये विना उत्पन्न नहीं होता है इसलिये मांस भक्षण जीवोंकी महान हिंसाका कारण है । जो मांसका भक्षण करता है, वह घोर पापी है, महान् हिंसक है ।

मांसका परित्याग करनेवाले जीवोंको सड़ा हुआ धान, अमर्यादित पदार्थ, चलित रस, जीवोंकी उत्पत्तिस्थानवाले पदार्थ, माखन प्रभृति अभक्ष पदार्थ तथा विना छाना हुआ पानी आदि नहीं पीना खाना चाहिये । जिस पदार्थमें जीवोंकी निरंतर उत्पत्ति होती हो ऐसे पदार्थका सेवन नहीं करे । विना शोधे हुए भोजनपानका सेवन नहीं करे । रात्रिमें भी भोजनपानका सेवन न करें क्योंकि रात्रिमें जीवहिंसा होनेकी संभावना होती है ।

सबसे भयंकर पाप मांसभक्षणसे यह होता है कि प्रकृति क्रूर

और निर्दयी तामस प्रकृतिकी हो जाती है, ज्ञान तंतुओंमें मलिनता उत्पन्न होजाती है अतः मांस भक्षणका परित्याग जैनमात्रको करना ही चाहिये। जैन क्यों? समस्त विचारवान् पुरुषोंको मांस नहीं खाना चाहिये—

मांस भक्षण करनेसे जीवोंकी कितनी अशुभ अवस्था होती है? उसकी कथा यह है।

मांस भक्षण करनेवाले राजाकी कथा।

भारतवर्षमें कंपिल्ल नामका प्रसिद्ध नगर था। (जहांपर श्री वासुपूज्य भगवानका कल्याणक हुआ) यह नगर अत्यंत विशाल और सुन्दर था। कम्पिलानगरीका भीम नामका राजा था।

नंदीश्वर व्रतके प्रारम्भ होते ही समस्त राज्यमें राजाने अभय घोषणा दिलवाई कि "कोई भी नंदीश्वर व्रतकी समाप्ति पर्यन्त जीववध नहीं करे और मांस भक्षण नहीं करे, जो मनुष्य ऐसा करेगा वह दंडका पात्र होगा।" राजाकी इस आज्ञाको श्रवणकर समस्त प्रजाने हिंसक व्यापारका आठ दिनपर्यंत परित्याग कर दिया, परन्तु राजा स्वयं महापापी था, मांस व्यसनी था, एक दिन भी मांस खाये विना नहीं रहता था। राजाकी आज्ञासे नगरमें मांसकी प्राप्ति नहीं थी इसलिये एक दिन राजाको मांसका भोजन नहीं मिला इसलिये राजाने भोजन नहीं किया और अपनी रसोई करनेवाले नोकरको आज्ञा दी कि किसी प्रकार मांसका भोजन बनाओ तो मैं प्रसन्न होऊंगा और बहुतसा द्रव्य प्रदान करूंगा। रसोइया राजाकी आज्ञाको सुनकर मसानमें गया और वहांसे एक मृतक बालक ले आया। उसका मांस राजाको भक्षण कराया। राजा इस नृ—मांसको

भक्षणकर प्रसन्न हुआ और ऐसा ही मांस बनानेकी आज्ञा दी। पापी रसोइयाने धन प्राप्त करनेकी तृष्णासे एक युक्ति की कि राजमहलमें मिठाई बांटना प्रारम्भ किया। मिठाईको लेनेके लिये जो बालक आवें उनमेंसे जो सबसे पीछे रह जावे उसको मारकर राजाको भक्षण कराने लगा, परन्तु यह बात नगरमें दो दिनमें ही प्रकट होगई कि राजा बालकोंको मारकर खाता है इसलिये प्रजाने अपमानके साथ उसको राज्यसे बाहर निकाल दिया।

राज्यसे निकलकर वह पापी राजा एक भयानक वनमें गया। वहांपर वह बडी दुर्दशासे मारा गया और मरकर नरकमें गया। इस प्रकार पाप कर्मके फलसे वह बहुत समय पर्यन्त संसारमें परिभ्रमणकर नरकादि दुर्गतियों—दुःखों—को प्राप्त हुआ।

वेश्या व्यसन विचार—

वेश्या कुटिल स्त्रीको कहते हैं। इसको सब कोई जानता है। वेश्या धनके स्वार्थसे परिपूर्ण होती है और मद्य मांस आदि निंद्य पदार्थोंके सेवन करनेवाली होती है। वेश्याका प्रेम धनके अपहरण करनेमें ही होता है। कुत्तेके समान वह वृद्ध, युवा, रोगी और गरीब अमीर सबको सेवन करती है, उसे तो मात्र द्रव्यकी चाहना होती है, मनुष्योंकी विष्टाके समान वह महान मलिन होती है, समस्त रोगोंकी खानि होती है। ऐसी निंद्य वेश्याको सेवन करनेसे मनुष्य दुर्गतिका पात्र होता है।

वेश्याके सेवन करनेसे हजारों मनुष्य दुःखी हुए, अपमानित हुए और घर परिवारसे रहित भिखारी हुए। बडे २ श्रीमान् वेश्याको सेवन करनेसे दीन और दुःखी हुए। वेश्याको

सेवन करनेसे वर्तमान समयमें भी हजारों मनुष्य महान् दुःखी हो रहे हैं और धन संपत्तिसे रहित होकर रोगी बनकर घर२ पर भीख मांगते फिरते हैं। वेश्या सेवनके समान और कोई ऐसा व्यसन नहीं है जिससे प्रतिष्ठा, धन, संपत्ति और शरीर आदि सबका नाश हो जाय। वेश्याके सेवन करनेसे जैसा अपमान होता है वैसा अन्य किसी कार्यसे नहीं होता है। इसलिये वेश्याके सेवनका त्याग कर देना चाहिये।

वेश्या सेवन करनेसे मद्य, मांसका सेवन करना हो ही जाता है। जो मनुष्य वेश्याका सेवन करता है वह चोरी करना आदि पापोंको भी करने लग जाता है इस लिये वेश्यासेवनकरना समस्त पापोंकी खानि है। वेश्याका सेवनकर चारुदत्त सेठकी कैसी अवस्था हुई ? यह जाननेके लिये चारुदत्तकी कथा लिखते हैं—

सेठ चारुदत्तकी कथा।

भारतवर्षमें अत्यंत विशाल चंपापुर नामका एक नगर था। वहांपर सूरसेन नामका राजा राज्य करता था। चंपापुर नगरमें भानुदत्त नामका ९६ करोड दीनारका स्वामी एक सेठ रहता था। सेठ भानुदत्तकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था। सुभद्रा रूप और लावण्यमें सब स्त्रियोंसे अनुपम थी परंतु वह अज्ञान अधिक थी। पुत्रकी प्राप्तिके लिये सदैव कुदेवोंकी पूजा किया करती थी। इस प्रकार बहुतसे वर्ष कुदेवोंकी पूजा करते हो गये परंतु पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई जिससे वह अतिशय दुःखी रहती थी।

भाग्यके उदयसे एक दिवस उसने दो चारण मुनीश्वरोंके दर्शन किये। दर्शन करनेके बाद उसने मुनीश्वरसे पूछा कि हे

प्रभो ! मुझको पुत्रकी प्राप्ति होगी या नहीं ? सुभद्राके मनके सब अभिप्रायोंको जानकर मुनीश्वरने कहा कि हे वत्से ! तू कुदेवोंका आराधनकर पापकर्मोंको संचित करती है—इस प्रकार कुदेवोंकी आराधनासे तुझको पुत्रकी प्राप्ति नहीं होगी इसलिये मिथ्या मतको छोडकर पवित्र और सत्य जैन धर्मको स्वीकार कर तथा कुदेवोंकी आराधनाका परित्याग कर सुदेवोंकी पूजा कर तो नियमसे तेरे पुत्रकी प्राप्ति होगी। मुनीश्वरके ऐसे वचनोंको सुन-कर सुभद्राने तत्काल हीं जैनधर्म धारण कर लिया। धर्मके प्रभावसे कुछ समयके बाद चारुदत्त नामका एक परम सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। चारुदत्त युवा अवस्थाके प्रथम ही समस्त विद्याओं-का पारगामी हो गया। संसारमें क्या होता है ? उसको यह बिलकुल मालुम नहीं था—रात्रि दिवस वह विद्याभ्यास करनेमें ही मग्न रहता था।

चारुदत्तका विवाह एक सुन्दर युवतीके साथ किया था परंतु चारुदत्त विवाहसे क्या लाभ है ? और विषयसुख किसे कहते हैं यह जानता ही नहीं था, वह तो विद्याभ्यासमें तल्लीन रहता था।

पुत्रको विषयोंसे ऐसा उदास देखकर सुभद्रा मन ही मन दुःखित होती थी। एक दिवस चारुदत्तकी स्त्रीकी माता सुभद्राके घर पर आकर सुभद्रासे कहने लगी कि जो तुमारा लडका (चारु-दत्त) विषयोंके सुखको जानता ही नहीं है तो मेरी पुत्रीके साथ विवाहकर मेरी पुत्रीको दुःख क्यों दिया ? मैं ऐसा जानती तो चारुदत्तके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कभी नहीं करती।

पुत्रवधूकी माताके ऐसे उपालंभ (ठपका) पूर्ण वचनोंको सुन-

कर सुभद्रा अतिशय दुःखित हुई और चारुदत्त किस प्रकार विषयोंमें लवलीन हो ऐसा उपाय सोचने लगी। सच है स्त्रियां विचार रहित होती हैं। एक दिवस सुभद्रा सेठानीने चारुदत्तको अपने भाईके साथ वसंतसेनाके यहां भेजा। सुभद्रा यह जानती थी किसी प्रकार चारुदत्त विषयोंमें लीन हो जाय और इसका उपाय वेश्या है—वेश्या इसको सब कुछ सिखला देगी। चारुदत्तको अपने घर आया जानकर वसंतसेना वेश्याने चारुदत्तका पूर्ण स्वागत किया और उसको अपने वश करनेके लिये पानीके साथ २ मोहनीचूर्णका पान करा दिया। मोहनीचूर्णके प्रसादसे सेठ चारुदत्त विषयोंमें आसक्त हो गये और उस वसंतसेना वेश्याके साथ भोगोंको भोगने लगे।

वेश्याकी मां बडी कुटिल और पापिनी थी। उसने चारुदत्तके पाससे ९६ करोड दीनार रूप धन सब ले लिया, तब अपनी स्त्रीके आभूषणोंको वेचकर वेश्याके घर पर रहने लगा। जब वह भी समाप्त हो गये तब अपने महलको वेचकर वेश्याको द्रव्य दिया। इस प्रकार १२ वर्ष पर्यंत चारुदत्त उस वेश्याके घर पर रहे।

वेश्याकी माताने जब देखा कि चारुदत्तके पास एक फूटी कोडी नहीं रही है और इसकी माता तथा स्त्री धनके अभावसे दुःखी हैं तब एक दिवस रात्रिमें चारुदत्त सेठको कंबलमें बांधकर ऊपरसे टट्टी (संडास) में डाल दिया। हा! वेश्याका प्रेम! देखो कैसा स्वार्थसे भरा हुआ है। चारुदत्तका सब धन छीनकर उसको ऊपरसे संडासमें पटक दिया? सच है वेश्या धनको ही प्रेम करती है।

प्रातःकाल उदय होते ही चारुदत्त जाग्रत हुआ तो मलमूत्रसे लिप्त अत्यंत दुर्गंध स्थानमें कंबलसे लपेटा हुआ अपनेको देखकर अत्यंत पश्चात्ताप करने लगा और वहांसे अपने घरको गया, परंतु घर तो बिक गया था इसलिये वह अतिशय दुःखित हुआ। जब उसको सुभद्राने ऐसी विभत्स स्थितिमें देखा तब वह खूब रोने लगी। चारुदत्त सेठ अपनी माताकी धनके अभावसे दुःखित अवस्थाको देख नहीं सका और धन कमानेके लिये परदेशको चला गया।

देखो चारुदत्त सेठको वेश्याके सेवन करनेसे कैसे दुःख प्राप्त हुए इसलिये वेश्याका सेवन करना भव्य जीवोंको छोड़ देना चाहिये। वेश्याका व्यसन सबसे अधिक दुःखोंको प्रदान करनेवाला है।

शिकार खेलनेका विचार—

बंदूक, तलवार, कुंता आदि शस्त्रोंसे निरपराध और सर्व प्रकारसे दीन ऐसे हरिण आदि पशुको मारकर आनंदित होना सो शिकार खेलना है। शिकार खेलनेसे निरपराध और दीन प्राणियोंकी हत्या निष्काम होती है। बिचारे हरिण आदि पशु बनमें रहते हैं, तृण आदिको चरकर अपना पेट भरते हैं, भयसे सर्वत्र छिपे रहते हैं और कभी किसीको हानि नहीं पहुंचाते हैं; ऐसे दीन पशुओंके मारनेमें कौनसी बलिहारी है ? संसारमें ऐसे बहुतसे प्राणी हैं जो अन्याय, अत्याचार और जुल्म करते रहते हैं उनको दंड दिया जाय तो भी ठीक है, या जो अपने समान बलवान है उसके साथ अपने बलकी परीक्षा करना भी ठीक है। परन्तु हरिण आदि बिचारे निर्बल और दीन प्राणी हैं, वे किसीपर अत्याचार

नहीं करते हैं तो फिर उनको शस्त्रोंसे मारकर आनंद माननेका क्या कारण है ? सिंह आदि पशु भी भयसे विचारे गुफा आदि गुप्त स्थानोंमें रहकर अपने जीवनको व्यतीत करते हैं, उनकी शिकार करना भी घोर हिंसाका कारण है। सच पूछो तो शिकार करना कसाइयोंका भी कार्य नहीं है तो फिर उच्च कुलीन मनुष्य शिकारका व्यसन सेवनकर अपनेको कैसे पापका भागी बनायेगा।

शिकारका त्याग करनेवाले भव्य पुरुषोंको व्यर्थके पापारम्भमें होनेवाली हिंसाका भी परित्याग करना चाहिये। मेढाओंकी परस्परकी लडाई, तीतरोंकी लडाई और बकराओंकी लडाई आदि प्रकारकी लडाई करने करानेका त्यागकर देना चाहिये। दशहरा पर भैंसा (पाड़ा) आदि मारनेका भी परित्याग कर देना चाहिये।

शिकार खेलनेवाले ब्रह्मदत्तकी कथा।

जयंत देशके अंतर्गत उज्जैन नामकी एक प्रसिद्ध नगरी है। इस नगरीका स्वामी ब्रह्मदत्त नामका राजा था। ब्रह्मदत्त धर्मसे बिलकुल विहीन था, प्रकृतिका बडा ही क्रूर था और सदैव शिकार खेलनेमें ही मग्न रहता था। उसको शिकार खेलनेसे इतना प्रेम था कि जिस दिन वह शिकार नहीं करता था उसको चैन नहीं पडता था—नित्य ही—प्रतिदिन शिकार खेलनेको वह जाता था और शिकार खेलनेसे अतिशय प्रसन्न होता था।

एक दिन वह बनमें शिकार खेलने गया। बनमें उसको एक शिलापर ध्यानमें मग्न बैठे मुनीश्वर मिल गये। परन्तु राजाको धर्मसे प्रेम तो था ही नहीं जिससे वह मुनीश्वरकी वंदनाकर धर्मोपदेश श्रवण करता इसलिये वह शिकार खेलनेके लिये सीधा

वनमें चला गया, परन्तु मुनीश्वरके प्रभावसे उस दिवस राजाको शिकार नहीं मिली । तब तो इसके मनमें बड़ी ग्लानि उत्पन्न हुई। इसी प्रकार दूसरे तीसरे दिन भी शिकार नहीं मिली इससे राजाने मुनीश्वर पर अत्यन्त क्रोध किया । राजाको इतना क्रोध उत्पन्न हुआ कि वह अपने क्रोधको किसी भी प्रकारसे संभाल न सका इसलिये जिस शिलापर मुनीश्वर बैठकर ध्यान धरते थे उस शिलाको प्रचण्ड अग्निमें गरम लोहेके समान तप्तायमान कर दी । उस समय मुनीश्वर आहारके लिये नगरमें गये थे । आहारकर जब मुनीश्वर उसी शिलापर ध्यान धरनेके लिये आए तब उस शिलाको अत्यंत तप्त पाया । मुनीश्वर अपनेपर उपसर्ग आया हुआ समझकर उसी गरम शिलापर ध्यानस्थ होगये । शिला अत्यन्त तप्त थी । जिससे मुनीश्वरका शरीर जलकर भस्म होने लगा तो भी मुनीश्वरने अपना आत्म ध्यान नहीं छोड़ा और कर्मोंको नाशकर केवलज्ञानी होकर मोक्ष पधारे ।

इधर राजाको सातवें दिवस ही भयंकर कोढ़ नामका रोग उत्पन्न होगया जिससे उसके शरीरमें तीव्र दुर्गंध आने लगी । प्रजा और कुटुम्बके लोगोंसे यह दुर्गंध सहन न होसकी इसलिये राजाको एक वनमें भेज दिया गया । राजा वहांपर बड़े कष्टसे मरकर सातवें नरक गया । वहांपर उसने भयंकर दुःखोंको सहन किया । तेतीस सागर पर्यंत छेदन भेदन ताडन तापन आदि वचनअगोचर दुःख सहन किये ।

नरकसे निकलकर धीवरके घरपर कन्या हुआ—पुरुष पर्यायसे स्त्री पर्यायको प्राप्त हुआ । यह कन्या पूर्व भवके पापोंके कारणसे

अतिशय दुर्गंध शरीरवाली हुई। जिससे माता पिताने उसको एक वनमें छुड़वा दी। वहांपर वह अनाथिनी अपने कर्मों फलोंको भोगती हुई बड़ी हुई।

एक समय उस वनमें आर्यकाओंका संघ आया सो इसने आर्यकाओंकी भक्ति की और दुःखोंको नाश करनेका उपाय पूछा?. प्रधान आर्यकाने उसे धर्मका स्वरूप समझाकर श्रावकके व्रत दे दिये। पापके फलसे उसको एक सिंह खा गया और वह मरकर कुवेरदत्त सेठके घरपर पुत्री उत्पन्न हुई। इस पर्यायमें भी उसके शरीरमें दुर्गंध आती थी इसलिये एक दिन कुवेरदत्तने मुनीश्वरसे दुर्गंधका कारण पूछा? मुनीश्वरने शिकार खेलनेके तथा मुनीश्वरको जला देनेके पापसे यह दुर्गंध हुई है ऐसा कहा और पूर्व भवका समस्त वृत्तांत कह सुनाया जिसको सुनकर उस कन्याको जाति स्मरण ज्ञान होगया और उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। तत्काल ही उसने पाप निवारणार्थ मुनीश्वरसे षट्रसत्याग नामका व्रत लिया जिसके प्रभावसे स्त्री लिंगको छेदकर वह प्रथम स्वर्गमें देव हुई।

इस प्रकार शिकार खेलनेसे कैसे दुःख सहन करने पड़ते हैं। किसी जीवको कौतुकसे हंसी मजाकमें मत मारो। चींटी चींटा आदि छोटे २ प्राणियोंको भी खेलते २ मत मारो। शिकार खेलनेसे सचमुच नरकके दुःख सहन करने पड़ेंगे।

चोरी त्याग विचार—

दूसरोंकी पड़ी हुई, भूली हुई, अथवा एकान्तमें रखी हुई वस्तुओंको विना दिये हुए लेना सो चोरी है। धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि समस्त वस्तुओंका कोई स्वामी होता है, उसको अधिकार

है कि जो वस्तु प्रदान करने लायक है उसको दूसरोंको दान कर सके, परंतु उस वस्तुको स्वामीकी आज्ञा विना लेलेना सो चोरी है। धनादिक द्रव्य मनुष्योंको प्राणसे भी अधिक प्रिय हैं, क्योंकि यह प्राणी उनके संयोगमें सुख और उनके वियोगमें दुःख मानता है। व्यवहार दृष्टिसे धनादिक संपत्ति सुखको प्रदान करनेवाली है ही। दूसरोंकी धनादिक संपत्तिको उसकी आज्ञाके विना लेनेसे उसको कितना दुःख होता है—प्राणोंका निकल जाना अच्छा समझता है परंतु धनादिक संपत्तिकी चोरी हो जाना अतिशय दुःखकर समझता है। दूसरोंके धनादिककी चोरी करनेमें दूसरोंके प्राण लेनेसे भी अधिक पाप है, इसलिये चोरी करना सबसे भयंकर पाप है, हिंसाका कारण है, राजदंड, लोकदंड और भाई बंधुके दंडका कारण है।

चोरीके बराबर अन्याय और दूसरा कोई नहीं है, समस्त प्रकारकी आपदाओंका स्थान चोरी करना है। चोरी करनेसे सब व्यसन स्वयमेव हो जाते हैं। संसारमें चोरी करनेवाले चोरोंका पद२ पर अपमान होता है, वध बंधन आदि भयंकर दुःख प्रत्यक्ष प्राप्त होते हैं। चोरोंकी बेइज्जती प्रत्येक स्थानपर होती है। इसलिये चोरीके समान नीच काम और कोई नहीं है।

धर्मको जाननेवाले गणधर देव चोरी करनेवाले जीवको दुर्गतिका पात्र बतलाते हैं, क्योंकि उसके परिणाम सदैव क्रूर, मायाचारी और पापिष्ट बने रहते हैं। वह दूसरोंका धन हरणकर दूसरोंके प्राणोंका घात करता है इसलिये चोर नियमसे दुर्गतिका पात्र है।

चोरीका त्याग करनेवालोंको कमती बढती तोलना, दूसरोंकी धरोहरको हजम कर लेना, कम मूल्यकी वस्तु अधिक मूल्यकी

वस्तुमें मिलाकर देना इत्यादि वातोंका भी त्याग कर देना चाहिये। चोरी करनेसे कैसी दुर्गति होती है उसकी यह कथा है—

चोरी करनेवाले श्रीभूति ब्राह्मणकी कथा १

सिंहपुर नगरमें सिंहसेन नामका एक राजा था। राजाकी रानी रामदत्ता अतिशय चतुर और बुद्धिमती थी। जैसी वह चतुर थी वैसी ही वह दयालु और धर्मात्मा थी। इसी नगरमें एक श्रीभूति नामका ब्राह्मण रहता था। यह ब्राह्मण इतना चतुर था कि इसके छलछिद्र और पापकर्मोंको कोई नहीं जानता था। इसकी सत्य वोलनेकी प्रसिद्धि सर्वत्र होरही थी, और राजा तथा प्रजा सभी उसका विश्वास करते थे।

सिंहपुर नगरके पास पद्मखंड नामका एक ग्राम था। उसमें वारिदत्त नामका श्रीमंत सेठ रहता था। एक दिन वारिदत्तने परदेश जाकर धन कमानेका विचार किया। इसलिये अपने घरसे वहुतसा सामान तथा पांच अमूल्य रत्न लेकर सिंहपुर आया। सिंहपुरमें आते ही इसका विचार हुआ कि इन पांचों रत्नोंको यहीं कहीं विश्वासके स्थलपर रख जाऊं, ऐसा विचारकर वह श्रीभूत ब्राह्मणके पास आया और सन्मानके साथ कहने लगा कि महाराज इन रत्नोंको आप घरोहर रख लीजिये। कारण कि मैं द्वीपांतरमें जाता हूं। कदाचित् मेरे भाग्यमें पुण्यकर्म उदय नहीं हुआ और उससे मुझको हानि हुई तो इन पांच रत्नोंकी रक्षा होनेसे मेरा जीवन सुखकर होगा। ऐसा कह वह वारिदत्त श्रीभूत ब्राह्मणको रत्न सोंपकर रतनद्वीपको चला गया। वहांसे अपार धनको साथ लेकर पीछे वापिस लौटा तो मार्गमें जहाज फटकर टूट गया। वडी कठि-

नतासे प्राणोंकी रक्षा करता हुआ पुनः सिंहपुर नगरमें आया ।

श्रीभूत ब्राह्मण दूरसे ही वारिदत्तको अपने समीप आता हुआ देखकर पासमें बैठे हुए मित्रोंसे कहने लगा कि देखो वह दरिद्र वैश्य आता है सो मुझसे रत्न मांगेगा । इतनेमें वारिदत्त वहांपर आगया और श्रीभूतसे विनयके साथ रत्नोंकी याचना की (रत्न मांगे) । श्रीभूत ब्राह्मण हंसकर कहने लगा कि देखो मैंने प्रथम ही कहा था कि यह पागल है मुझसे रत्न मांगेगा ऐसा कह और वारिदत्तको पागल ठहराकर अपने घरसे निकलवा दिया । परदेशी विचारा वारिदत्तका कौन विश्वास करता है । सब लोग उसको पागल ही समझने लगे । वह विचारा अपने रत्नोंकी लूट हो जानेसे बड़ा ही दुःखी हुआ और अपने मनमें विचार किया कि श्रीभूत चोर है, ठग है, मैं अब इससे अपने रत्न किस प्रकार निकालूं ?

ऐसा विचारकर वह राजमहलके समीप जाकर प्रातःकालके प्रथम ही ' श्रीभूत ब्राह्मणने मेरे रत्न चुरा लिये हैं सो महाराज श्रीभूतसे प्रदान करावें । ' ऐसी पुकार नित्य लगाने लगा, परंतु राजा उसको पागल समझकर न्याय करनेके लिये तत्पर नहीं हुआ । इस प्रकार वारिदत्त शेठने राजमहलके पास छह महीने पर्यंत पुकार की तो भी राजाने उसकी पुकार नहीं सुनी ।

एक दिवस रानीने राजासे कहा कि स्वामिन् ! यह विचारा नित्य पुकार लगाता है सो इसके रत्न क्यों नहीं दिलवा देते हैं ? राजाने कहा कि प्रिये ! यह पागल है ऐसे ही बकता है—इसके पास रत्न कहांसे आये ? रानीने कहा यह पागल होता तो और कुछ भी बकता परंतु यह तो अपने रत्नोंकी ही पुकार लगाता है ।

राजाने कहा कि इसकी चोरी पकडना कठिन है। रानीने कहा कि स्वामिन्! आपसे चोर नहीं पकडा गया तो आपको राजा किस प्रकार कहा जाय अस्तु, आप चोरको पकडनेमें असमर्थ हैं तो मैं ही चोरको पकडूंगी, ऐसा कहकर उसने प्रातःकाल ही श्रीभूत ब्राह्मणको अपने महलमें बुलाया और उसके साथ जूआ खेलना प्रारंभ कर दिया। जूएमें श्रीभूत हार गया तब अपना जनेऊ रखा। जनेऊ भी हार गया। चतुर रानीने उस जनेऊको अपनी दूतीके हाथ देकर श्रीभूत ब्राह्मणके घरसे वारिदत्त सेठके पांच रत्न मंगवाये।

दूतीने श्रीभूत ब्राह्मणकी स्त्रीसे जाकर कहा कि श्रीभूत ब्राह्मणको राजाने रोक रखा है और यह जनेऊ देकर कहा है कि वारिदत्तके पांच रतन रखे हैं सो इस जनेऊको देखकर दे देना।

जनेऊको देखकर श्रीभूत ब्राह्मणकी स्त्री अपने मनमें यह तो समझ गई कि यह जनेऊ मेरे स्वामीका ही है, परंतु अपने स्वामीकी (श्रीभूत ब्राह्मण) मारके भयसे रत्न नहीं दिये। दूसरी वार वही दूती श्रीभूत ब्राह्मणकी मुद्रिका (जो जूएमें रानीके साथ हार गया था) लेकर श्रीभूत ब्राह्मणके घर गई और कहा कि श्रीभूत ब्राह्मणको राजाने रोक रखा है। आप रत्नोंको दे दीजिये। श्रीभूत ब्राह्मणने अपनी मुद्रिका भेजी है। उसको देखकर रत्न दीजिये। मुद्रिकाको देखकर श्रीभूत ब्राह्मणकी स्त्रीने रत्न दे दिये। दूती रत्नोंको लेकर रानीके पास आई। रानी रत्नोंको देखकर प्रसन्न हुई और जूआको समाप्तकर राजाको महलमें बुलाकर वे रत्न दिखलाये और कहा कि कसी नीतिसे यह चोर पकड़ा है, परन्तु ये रत्न उस ब्राह्मणके ही हैं या नहीं सो परीक्षा कर देना चाहिये।

राजाने श्रीभूत ब्राह्मणको राजसभामें बुलाकर पूछा कि रत्नोंकी चोरी करनेवालोंको क्या दंड देना चाहिये ? श्रीभूत ब्राह्मणने कहा कि हे नरेश्वर ! रत्नोंकी चोरी करनेवाले चोरका काला मुंहकर और गधेपर चढ़ाकर राज्यसे निकलवा देना चाहिये व उसकी सब संपत्ति छीन लेनी चाहिये । राजाने ऐसा सुनकर एक सोनेके थालमें बहुतसे रत्नोंको रखकर और उनमें वारिदत्त सेठके भी ५ रत्नोंको रखकर वारिदत्तसे कहा कि देखो तुम्हारे रत्न इस थालमें हैं या नहीं ? वारिदत्तने अपने पांच रत्न बीनकर और परीक्षाकर निकाल लिये जिससे राजा प्रजा सबको विश्वास हो गया कि इसके रत्न अवश्य चोरीमें गये हैं

इसके बाद श्रीभूत ब्राह्मणके घरसे कैसी युक्तिसे रानीने रत्न निकलवाये यह वृत्तांत समस्त सभाके सामने प्रकट कर श्रीभूतसे पूछा कि तूने रत्नोंकी चोरी की थी ? अपना पाप प्रकट होनेसे श्रीभूतने स्वीकार किया और राजाने श्रीभूत ब्राह्मणके कहनेके अनुसार गधेपर चढ़ाकर राज्यसे निकलवा दिया तथा उसकी सब संपत्ति छीन ली गई । इस प्रकार चोरी करनेसे कैसा दुःख होता है इसको विचारकर चोरी करना छोड देना चाहिये ।

चोरी करनेसे राजदंडके साथ लोकमें कितना अपमान होता है—समस्त प्रकारकी प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है, सब लोग उसका तिरस्कार करने लगते हैं और परलोकमें दुर्गतिमें जाना पडता है इसलिये चोरी करनेका त्याग करना चाहिये ।

परस्त्री सेवन विचार—

पंच, अग्नि, देव आदिकी साक्षीपूर्वक ग्रहण की हुई अपनी

स्त्रीको छोडकर बाकी सब स्त्रियां परस्त्री कहलाती हैं। कन्या विधवा और वेश्या आदि सब स्त्रियां परस्त्री हैं। परस्त्रीके साथ विषयसेवन करनेको परस्त्रीसेवन व्यसन कहते हैं।

संसारमें परस्त्री सेवनके समान और कोई भयंकर पाप नहीं है। यह पाप समस्त पापोंसे बढकर है। इस पापको सेवन करनेवालोंको रोग, बेइज्जती, अपमान, द्रव्य नाश, राजदंड, पंचदंड आदि दुःख प्रत्यक्ष प्राप्त होते हुए दीखते हैं। जो मनुष्य एक बार भी इस भयंकर पापको सेवन करता है उसके समस्त गुण नाश होजाते हैं। सदाचार तत्काल ही नाश होजाता है। ऐसे पापका विचार करनेसे ही बुद्धि मलिन होजाती है, शरीर बेचैन होजाता है, मनमें व्यग्रता बढ जाती है, बचनोंमें पापिष्टता आजाती है और शरीरकी चेष्टा बिलकुल ही मलिन होजाती है।

इस व्यसनको सेवनकर बहुतसे मनुष्योंने अपने घर परवारको नष्टकर दिया। अपनी संपत्तिको नष्टकर घर २ भीख मांगनेके पात्र होगये, रोगी होकर बडे कष्टसे मरकर दुर्गतिमें गये और वर्तमान समयमें भी जारहे हैं। जिन २ मनुष्योंने इस पापको सेवन किया है वह बडे २ कष्टोंको प्राप्त हुए हैं। इस पापके कारण बहुत मनुष्य बडे २ दारुण कष्टको प्राप्त होरहे हैं। जैसा दुःख इस पापके सेवन करनेमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है वैसा दुःख अन्य पापसे देखनेमें नहीं आता।

पर स्त्री सेवन करना मानों दुखोंको निमंत्रण करना है तथा सदाचारको विदाकर देना है। संसारमें जितने अन्याय, अत्याचार, जुल्म और लडाई आदि भयंकर कांड होते हैं उन सबकी जड परस्त्री सेवन

महाभारतके समान युद्ध हुए वे सब परस्त्री सेवनके विचारोंसे हुए। अगणित प्राणियोंका सत्यानाश इस व्यसनके सेवन मात्रसे हो जाता है। जितना इस विषयका प्रचार होगा उतनी ही अनीति और अत्याचार बढेंगें। संसारका नाश करनेवाला यह व्यसन है। इस लोकमें तो इस पापका फल प्राप्त होता ही है और परलोकमें भी दुर्गतिके दुःख इस पापके कारण सहन करने पडते हैं।

परस्त्री सेवनका त्याग करनेवालोंको व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे संपर्क रखना, कामकी कुचेष्टा करना, परस्त्रीके रूपको देखना, विधवाओंका पुनर्लग्न करना, व्यभिचारकी कथा वार्ता उपन्यासोंको लिखना या पढ़ना, अनीतिसे चलना, आमिष भोजन करना और सदाचार रहित अपने जीवनको रखना आदि बातोंका भी परित्याग कर देना चाहिये।

परस्त्री सेवनके विचारमात्रसे रावणकी कैसी दशा हुई? इसकी कथा यह है।

रावणकी कथा।

रावण लंकाका अधीश तीन खंडका स्वामी और विद्याधरोंका अधिपति था। रावणके समान बलिष्ट योद्धा उस समय संसारमें कोई नहीं था। जिस रावणने कैलाशगिरीको अपने पराक्रमसे उठा लिया उसके बलका क्या वर्णन हो सक्ता है? रावण जैसा बली था वैसा ही शक्तिशाली था। उसका भाई विभीषण और उसके पुत्र इन्द्रजीत और कुंभकरण महान् बलिष्ट पुण्य पुरुष थे। समस्त विद्याओंका रावण पारगामी था। जिस रावणके चक्ररत्नकी सेवा देवगण करते थे उसकी विद्याओंकी सिद्धियोंका क्या ठिकाना?

शक्ति, गरुड, नागपाश आदि देवीशस्त्रोंकी सिद्धि जाननेवाला वह रावण था। रावणकी विभूति भी अपार थी।

रावणके ३२ हजार तो रानी थीं और कितनी ही अक्षोहिणी सेना थी। इस प्रकार वह रावण शक्ति, बल, सत्ता, वैभव और गुणोंमें सर्वोपरि था तो भी रावणकी नियत परस्त्री सेवन करनेमें हुई। ऐसे दुष्ट विचारसे ही रावण सीता सतीको हरणकर ले आया। यद्यपि रावणके यह प्रतिज्ञा थी कि "जो स्त्री मुझको स्वयं इच्छा करेगी उसके साथ हीं विषयसेवन करूंगा।" उस प्रतिज्ञाके अनुसार रावणने सीताको बहुत ही समझाया परन्तु सीता अपने मनवचन कायसे जरा भी चलायमान नहीं हुई। इसलिये रावण सीताके साथ अपनी इच्छाको पूर्ण नहीं कर सका तो भी उसने अपने विचारोंसे सती सीताके साथ कुत्सितभाव प्रदर्शित किये, अपनी भावनाको पापिष्ट की, अपने परिणामोंसे मलिन वासना प्रकट की। इसी पापके फलसे वह राज्यसंपदाको नष्टकर बडे ही अशुभ भावोंसे मरा जिससे नरकमें गया।

रावणका सब कुटुम्ब एक इस पापसे ही नष्ट होगया, विद्यायें पलायमान होगई, रावणका प्रबल बल चला गया और युद्धमें बड़ी बुरी तरह हार खानी पडी। रावण समस्त गुणोंका स्वामी होने-पर भी एक इस पापके विचारसे ही आज लाखों वर्ष व्यतीत होने-पर अप्रतिष्ठा (अपयश) का पात्र होरहा है, तो जो मनुष्य इस विषयको सेवन करे वे दुःख और अपयशके पात्र क्यों नहीं होंगे? परस्त्री सेवन करनेवाले जीव नियमसे दुःखोंके पात्र होते हैं।

परस्त्री सेवनके विचारसे एक रावणकी ही ऐसी दुर्गति नहीं

हुई किन्तु बहुतसे मनुष्य इस पापके कारण दुर्गतिसे पात्र हुए है और होरहे हैं ।

इस पापके विचार करनेसे या मनमें परस्त्रीकी भावना प्रकट करनेसे ही जप तप संयम और सामायिक आदि गुण लोप होजाते हैं तो जो इस पापको खुशी होकर सेवन करते हैं उनके न जाने कैसे हाल होते होंगे यह अरहंत परमात्मा ही जाने ।

हे भव्यजीवो ! जो आपसे कोई व्रतका पालन न होसके तो एक ब्रह्मचर्य (परस्त्री त्याग) व्रतको अवश्य ही पालन करो । इस व्रतके फलसे देवगण भी पूजा करते हैं । जिसने निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया है उसकी पूजा सीताके समान सर्वत्र होती है, इसलिये ब्रह्मचर्यकी महिमा अनंत है ।

इस प्रकार सात व्यसनोंको सेवनकर बडे२ प्रसिद्ध भी दुःखोंके पात्र हुए हैं तो साधारण मनुष्य इन व्यसनोंको सेवनकर क्यों नहीं दुःखके पात्र होंगे । १ पांडव, २ यदुवंशी, ३ बक, ४ चारुदत्त, ५ ब्रह्मदत्त, ६ शिवभूति और ७ रावणके समान अगणित मनुष्य व्यसनोंके प्रभावसे महान दुःखोंको प्राप्त हुए हैं । जब एक व्यसनके प्रसादसे महान् पुरुषोंको दुःख प्राप्त हुआ है, तब सातों व्यसनोंको सेवनकर कौन दुःखी नहीं होगा ।

पांच उदंबर फलोंका त्याग करनेवाला भव्य जीव धान्य मात्रकी जितनी फली हैं सोधकर उनको सेवन करे—सेम (वालोड) प्रभृति शाकोंको शोधकर ग्रहण करे क्योंकि इनके अभ्यंतर जीव होते हैं । फलोंको शोधकर भक्षण करे । द्विदल (कच्चा—विना गरम किया हुआ दूध दहीं और तक्रमें जिस धान्यके दो टुकडे

समान भागके होसके ऐसे चना उडद प्रभृति धान्यको मिलाकर खानेसे द्विदलका दोष प्राप्त होता है क्योंकि द्विदलमें तत्काल ही लारके संयोगसे जीव उत्पन्न हो जाते हैं) तथा चाम (चमड़ा) में रखा हुआ तेल, घी, पानी आदिका सेवन नहीं करे। १७ ॥

कांजी अमर्यादित (दो दिनबाद), तक्र दो दिनका, दही, अचार, लौनी और आसव प्रभृति वस्तुओंको मधुका त्याग करनेवाला भव्य जीव परित्याग करे, क्योंकि इन सबमें जीवोंकी उत्पत्ति है। मुरब्बा आदि वस्तुएं मधुके तुल्य ही हैं। इसलिये इनके सेवन करनेमें मधुके समान ही पापास्रव है। १८ ॥

मांसका परित्याग करनेवाले भव्य जीवको रात्रिमें बनाया हुआ भोजन और रात्रिमें भक्षण करनेका त्याग कर देना चाहिये। विना छाना हुआ पानी, सडा हुआ अन्न सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि रात्रिमें छोटे २ बहुतसे जीव भक्ष्य पदार्थमें पडकर मर जाते हैं इसलिये जीवोंकी दया पालनेवालोंको उसका परित्याग करना चाहिये ॥ १९ ॥ २० ॥

छाने हुए पानीमें दो मुहूर्त बाद पुनः जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये मर्यादासे पानीको छानकर जीवानी यत्नाचारसे जहांकी तहां पहुंचानी चाहिये। २१ ॥

व्रत प्रतिमाका स्वरूप—

पांच प्रकारका अणुव्रत, तीन प्रकारका गुणव्रत और चारके शिक्षाव्रतको पालन करनेवाला व्रत प्रतिमाका धारी श्रावक है॥२२॥

पांच अणुव्रत ।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापोंका एकदेश प्रमाण करना सो अणुव्रत है। इस अणुव्रतको पालन करनेसे स्वर्गके सुख प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

अहिंसाणुव्रतका स्वरूप—

प्रमादके योगसे जीवोंके प्राणोंका वध करनेको हिंसा कहते हैं। हिंसा दुर्गतिका कारण है। जो मनुष्य मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका परित्याग करता है तथा स्थावर जीवोंकी भी दया पालन करता है वह अहिंसाणुव्रतका धारक है। जिसमें बहुतसे स्थावर जीव मरते हों ऐसे आरम्भका भी परित्याग करे क्योंकि स्थावर हिंसा त्रस हिंसाकी कारणभूत है ॥ २९ ॥ धर्म दयामयी है। अधर्म हिंसामयी है। धर्मको आचरण करनेवाले भव्य जीवोंको जीवोंका वध नहीं करना चाहिये। मनसे भी किसीका दिल नहीं दुखाना चाहिये, वचनसे कटुक नहीं बोलना चाहिये और शरीरसे अन्य जीवोंका घात नहीं करना चाहिये. अपने विचारोंसे भी किसीकी हानि न पहुंचानी चाहिये—समस्त छोटे बडे जीवोंपर दया करनी चाहिये। दया पालनकर मृगसेन धीवर कैसे उत्तम पदको प्राप्त हुआ उसकी यह कथा है।

अहिंसाणुव्रती मृगसेन धीवरकी कथा ।

उज्जैन नगरीमें मृगसेन नामका एक धीवर रहता था। वह नित्य ही सिप्रानदीमें जाल डालकर घोर हिंसा करता था। इस धीवरकी स्त्रीका नाम घंटा था और वह स्वभावकी अत्यन्त क्रूर

और पापिष्टा थी—उसके हृदयमें जरा भी दया नहीं थी, इतना ही नहीं किंतु वह अपने स्वामी मृगसेन धीवरको कठोर वचन कहकर सताया करती थी। एक दिवस वह धीवर जालको कंधेपर रखकर सिप्रानदीको जा रहा था कि मार्गमें यशोधर मुनीश्वरके दर्शन हो गये। मुनिवरको देखकर उस धीवरके मनमें भक्ति भावना जाग्रत हो उठी। इसीलिये वह मुनिश्वरको नमस्कार कर उनके पास विनयसे बैठ गया। मुनिवरने उसको निकटभव्य समझकर कहा कि हे वत्स! धर्मपालन करनेसे जीवको सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिये तू भी धर्म पालन कर। हे वत्स! सबसे उत्तम धर्म दया है—दयाके समान अन्य कोई धर्म नहीं है। मुनीश्वरके ऐसे वचनोंको सुनकर मृगसेनने कहा-स्वामिन्! मेरी आजीविका ही हिंसारूप है, मैं दया धर्मका किस प्रकार पालनकर सक्ता हूं, इसलिये अन्य व्रत दीजिये। मुनीश्वरने कहा कि तू ऐसी प्रतिज्ञा धारणकर कि "जालमें सबसे प्रथम जो जीव आवे उसको छोड देना। बस दिवसमें एक जीवकी दयाका पालन करना" मुनीश्वरकी ऐसी आज्ञाको सुनकर उस धीवरने सहर्ष यह व्रत धारण कर लिया, तब मुनीश्वरने उसको नमस्कार मंत्र भी बतला दिया।

इस प्रकार व्रतको ग्रहणकर और मुनीश्वरको नमस्कार कर वह नदीको चला गया। नदीमें उसने जाल डाला तो सबसे प्रथम उस जालमें एक बडा मत्स आया। उसको देखकर धीवरने मुनीश्वरकी आज्ञा प्रमाण विशुद्ध भावोंसे उसके कानमें एक डोरा डालकर उस मत्सको छोड दिया। फिर दूसरे स्थानमें जाल डाला दैव संयोगसे वही मत्स जालमें दूसरीवार आया। फिर भी उसको

छोड दिया। इस प्रकार पांच स्थानोंमें दिवस पर्यन्त जाल डालता रहा परन्तु वही मत्स उसके जालमें आया। अंतको वह नमस्कार मंत्रका स्मरण कर रात्रिको अपने घर गया। घरपर उसको खाली जाल लाया हुआ देखकर उसकी घंटा स्त्रीने कटुक वचन कहकर घरका दर-वाजा बंद कर लिया। जिससे वह धीवर घरके बाहर एक काठके ऊपर सो गया, और सर्पके काटनेसे मर गया। इसके मरनेपर घंटाको बहुत दुःख हुआ और वह निदानकर मर गई कि भविष्यमें मेरे यही पति हों।

धीवरका जीव दया धर्मके फलसे गुणपाल सेठकी स्त्री धन-श्रीके गर्भमें आया। गुणपाल सेठके एक सुन्दर कन्या थी जिसको विशाखाके राजाने अपने मंत्रीके लडकेको देनेको गुणपालसे कहा। गुणपाल विजातीय मंत्रीके लडकेको अपनी कन्या देना नहीं चाहता था इसलिये वह अपनी गर्भवती स्त्रीको श्रीदत्त मित्रके घरपर रख-कर विदेश चला गया। श्रीदत्तके घरपर मुनीश्वर आहारके लिये आये थे सो आहारकर धनश्रीसे कहा कि महान् पुण्यशाली जीव तेरे गर्भमें है। यह बात श्रीदत्त भी सुन रहा था। उस पापीको अपने मित्र गुणपालकी वृद्धि सहन न हुई इसलिये धनश्रीके पुत्रको मारनेका निश्चय कर लिया।

पुत्रके जन्म होते ही दुष्ट श्रीदत्तने उसको मृतक—मरा हुआ प्रसिद्ध कर दिया, क्योंकि मित्रका पुत्र पुण्यशाली और राजमान्य हो। यह उस दुष्टसे किस प्रकार सहन होसकता है। सच है ईर्षा करनेवालोंको दया नहीं होती है।

चांडालोंको बुलाकर श्रीदत्तने कहा कि इस बालकको वनमें

मारकर आओ तो बहुत द्रव्य दूंगा। चांडालको पुत्रका मनोहर रूप और उसका तेज देखकर दया आई और उस पुत्रको इंद्रदत्त नामके वैश्यको (जो कि श्रीदत्तका वहनोई था) दे दिया। श्री इन्द्रदत्तने पुत्रके लक्षण देखकर मेरी स्त्रीके अगूढ़ प्रसूति हुई ऐसा प्रसिद्धकर वालक जन्मका महोत्सव किया। यह वात श्रीदत्त पापीको किसी प्रकारसे मालूम होगई इसलिये वह अपने वहनोई इन्द्रदत्तके पास आकर कहने लगा कि मेरी वहिनकी प्रसूति मेरे ही घरपर होगी, ऐसा कहकर अपनी वहिन और उस वालकको अपने घर ले गया। घर पर पहुंचते ही चांडालोंको बुलाकर पुनः उस पुत्रको मारनेके लिये सोंपा। चांडाल उस वालकको एक वनमें छोड़ आये परन्तु मार नहीं सके। सच है कि पुण्यके उदय होनेपर कोई कितनी ही आपत्ति करे परन्तु कुछ नहीं होता है। वालक वनमें एक शिलापर खेल रहा है और गाय उसको दूध पिला रही है। यह अद्भुत चमत्कार देखकर एक ग्वालियेके स्वामीने उस वालकका अपने घर पर पालन पोषण किया। पुण्यके उदय होनेपर सर्वत्र सहायक होजाते हैं।

एक दिवस श्रीदत्त इस ग्वालियेके घरपर घी लेनेको आया और वालकका वृत्तांत जानकर निश्चय कर लिया कि यह वालक वही है इसलिये उसके मनमें द्वेषकी आग फिर लगी और उसको मारनेका फिर विचार किया। तत्काल ही उसने ग्वालियासे कहा कि इस वालकको मेरे घरपर यह पत्र लेकर भेज दीजिये। ग्वालियेने हां कहकर स्वीकार किया और पत्र लेकर श्रीदत्तके घर वालकको भेज दिया। पत्रमें लिखा था "इसको मार डालना।" वालक पत्रको

गले बांधकर श्रीदत्तके घर गया। मार्गमें नींद आनेसे वह एक आमके वृक्षके नीचे सोगया। वहां पर एक वेश्या बैठी थी उसने बालकके गलेमेंसे पत्र खोलकर पढा तो श्रीदत्तके कुकृत्यसे वेश्याको अत्यंत घृणा हुई इसलिये उसने उस पत्रके अक्षरोंको मिटाकर यह लिख दिया कि "इस पत्रको लानेवालेके साथ अपनी पुत्री श्रीमतीका विवाह कर देना।" पत्रको लेकर जब बालक श्रीदत्तके घर पर गया तब उसका विवाह श्रीदत्तकी पुत्रीसे कर दिया गया। जब विवाह होनेके समाचार श्रीदत्तको मिले तब वह बहुत ही पश्चाताप करने लगा, परंतु कुछ कह नहीं सका "सच है कि पुण्यके उदयसे वैरी भी मित्र हो जाते हैं और विपत्ति सुखकर हो जाती है। क्यों न हो, दया धर्मका पुण्य कुछ कम नहीं होता है। श्रीदत्त अपने घर पर आकर अपनी स्त्रीसे कहने लगा कि किसी प्रकार इस बालक (जो श्रीदत्तका जमाई था) मार डालना चाहिये। स्त्रीने कहा कि वृद्ध अवस्थामें आपकी बुद्धि मारी गई है। इसलिये सदैव पापका ही विचार करते रहते हो, परंतु श्रीदत्तने एक नहीं मानी और उस बालकको मारनेके लिये आग्रह किया।

एक दिवस श्रीदत्तके कहनेसे उसकी स्त्रीने विषके लड्डू बनाये, परंतु वे लड्डू श्रीदत्तको ही भूलसे खानेको परोसे गये, जिससे वह तत्काल ही मर गया। सच है कि दूसरोंको गड्ढा खोदनेवाला स्वयं उस गड्ढेमें गिरता है।

कुछ समयबाद गुणपालसे अपने बालककी भेट हो गई। इस (इस बालकका) नाम धनकीर्ति रखा गया। धनकीर्तिके गुणोंसे राजा मोहित होगया और अपनी कन्याके साथ विवाह कर आधा राज्य दे दिया।

देखो मृगसेन धीवरने एक दिवस अहिंसाव्रत पालन किया था उसका फल कैसा मिला कि दूसरे भवमें राजा हुआ और श्रीदत्तके अनेक प्रयत्न करनेपर भी मृत्युको प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु मनुष्योंके उत्तम सुखको भोगकर अविचल सुखका भागी हुआ। जो कोई भव्य जीव जीवोंकी दया पालन करता है वह इसी प्रकार सुखको प्राप्त होता है।

सत्याणुव्रतका स्वरूप—

क्रोधसे भयंकर समय उपस्थित होनेपर भी मिथ्या वचन नहीं बोलना चाहिये। मिथ्या वचनोंको किसी भी समय नहीं कहना चाहिये चाहे कितनी ही अपनी हानि हो जाय या कैसा ही स्वार्थ क्यों नहीं नष्ट हो जाय तो भी झूठ नहीं बोलना चाहिये। लोभ या स्वार्थके वश होकर सत्यका परित्याग नहीं करना चाहिये। हंसी मजाकमें भी असत्य नहीं बोलना चाहिये और ऐसा सत्य वचन भी नहीं कहना चाहिये जिससे जीवोंका वध हो—प्राणियोंका घात हो।

सत्य वचन कहनेवालोंको झूंठे लेख, मिथ्या शास्त्रोंका उपदेश, चुगली, निंदा करना आदि पापिष्ट कार्योंको भी छोड देना चाहिये। सत्यके समान विश्वासका स्थान अन्य कोई भी नहीं है। सत्यभाषीकी समस्त विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं और संसारमें सुयश बढता है।

सत्य भाषणसे कैसे सुख प्राप्त हुए उसकी यह कथा है—

सत्यभाषीकी कथा।

स्वस्तिकावती नगरीमें विश्वावसु नामका राजा रहता था। यह राजा अतिशय धर्मात्मा और नीतिसंपन्न था। इसी नगरमें क्षीर-

कंद नामका एक महान विद्वान और परम धर्मात्मा उपाध्याय रहता था । क्षीरकंद शिष्योंको पठन पाठन कराकर सुखसे काल व्यतीत करता था । क्षीरकंदके पास राजा विश्वावसुका पुत्र वसु नामका राजकुमार, नारद, तथा अपना पुत्र (क्षीरकंदके पुत्रका नाम पर्वत था) पर्वत ऐसे तीन शिष्य विद्याध्ययन करते थे । इन तीनों शिष्योंमेंसे नारद अतिशय प्रवीण और चतुर था । क्षीरकंद उपाध्याय तीनों शिष्योंको बडे प्रेमसे विद्याध्यान कराता था परंतु वसु राजकुमार तथा पर्वतकी बुद्धि जाड्य होनेसे कुछ लाभ नहीं हुआ । मात्र नारद ही समस्त शास्त्रोंमें पारगामी हो गया ।

एक दिवस राजकुमार वसुको पाठ याद नहीं होनेसे क्षीर-कंद उपाध्यायने शिक्षा देनेका विचार किया, परन्तु क्षीरकंदकी स्त्रीने वसु राजकुमारको शिक्षासे बचा लिया इसलिये वसु बडा ही प्रसन्न हुआ और क्षीरकंदकी स्त्री—अपनी गुरु माताको—वरकी यांचनाके लिये कहा परंतु क्षीरकंदकी स्त्रीने अपना वर भंडारमें जमा रखनेके लिये कहा । कुछ समयके बाद क्षीरकंदको वैराग्य उत्पन्न हो गया इसलिये दीक्षा धारणकर मुनीश्वर हो गये । इधर राजा विश्वावसु भी संसारसे विरक्त होकर मुनि हो गये । तव राजा वसुको राज्यपद धारण करना पडा ।

राजा वसुकी सभामें एक ऐसा सिंहासन था कि जो भूमिसे अंतरीक्ष रहता था । राजा वसु इस सिंहासनपर बैठकर राज्य करता था और संसारमें यह प्रसिद्ध कर रखा था कि मेरा सिंहासन सत्यके प्रभावसे सदैव अंतरीक्ष रहता है तथा समस्त प्रजाको भी विश्वास था कि राजा वसुके समान संसारमें कोई सत्यभाषी नहीं है ।

एक दिवस पर्वत उपाध्याय अपने विद्यार्थियोंको शास्त्र पढाते हुए "अजैर्यष्टव्यं" का अर्थ बकरोंसे होम करना चाहिये ऐसा करता था जिसको सुनकर नारदने कहा कि भाई अपने गुरु क्षीरकंदजीने अज शब्दका अर्थ तीन वर्षका पुराना यवका धान्य किया था। सो यह पापिष्ट अर्थ क्यों करता है ? अपने मनमें विचार तो कर ! परन्तु पापी पर्वतने अपनी झूंठी हठ नहीं छोड़ी। नारदको अपने गुरुपुत्र पर्वतका यह हठाग्रह बहुत ही बुरा लगा। उसने धर्मबुद्धिसे पर्वतको समझाते हुए कहा कि भाई. अजाका अर्थ बकरा करनेसे महान हिंसक अर्थ आगमविरुद्ध होगा और आगमविरुद्ध अर्थ करनेसे जीव दुर्गतिका पात्र होता है, परन्तु पापी पर्वतने नारदके समझानेपर भी नहीं माना और अज शब्दका अर्थ बकरा ही करता रहा। अंतमें दोनोंका विवाद खूब बढ गया और दोनोंने यह प्रतिज्ञा करी कि राजा वसु भी अपने साथ गुरुजीसे पढता था सो गुरुजीने अज शब्दका अर्थ क्या बतलाया है? यह वह भी जानता होगा इसलिये राजा वसु जिसके अर्थको सत्य बतलावे और जिसका सत्य अर्थ निकले वह दूसरेकी जीभ काट लेवे। यह प्रतिज्ञा पर्वतकी माताने सुनी और अपने पुत्रकी मूर्खता पर अपने पुत्रको बहुत समझाने लगी, परन्तु जब उसने नहीं माना तब पर्वतकी माताने वसु राजाके पास जाकर अपना वर मांगा। माताने वरमें यह मांगा कि मेरे पुत्र पर्वतने अजका अर्थ बकरा किया है सो आप यह कह दीजिये कि अजका अर्थ बकरा ही होता है गुरुजीने सबको यही अर्थ बतलाया है।

दूसरे दिवस राजसभामें वसु राजाने समस्त नगरवासियोंके

समक्ष कहा कि "गुरुजीने अजका अर्थ बकरा बतलाया है" इस प्रकार झूंठ वचन कहकर राजा वसुने संसारमें सबसे प्रथम जीवोंकी हिंसा रूप हिंसक हवनका प्रारम्भ कराया। इस प्रकार आगम विरुद्ध झूंठके बोलनेपर वसु राजाका सिंहासन इकदम टूट गया और झूंठके प्रसादसे वसु राजा मरकर नरक गया व पर्वत भी नरक गया। इस प्रकार झूठ बोलनेका फल कैसा भयंकर होता है वह इस कथासे विदित होता ही है। इस लिये भव्य जीवोंको झूंठ बोलना न चाहिये।

अचौर्याणुव्रतका स्वरूप—

भूला हुआ, पड़ा हुआ या विस्मृत अन्यका द्रव्य स्वामीकी आज्ञाके बिना नहीं लेना सो अचौर्याणुव्रत है।

चोरी करनेमे क्या हानि होती है? इसका स्वरूप चोरीके त्याग रूप सात व्यसनोंके स्वरूपमें पृष्ठ ५२ पर वर्णन कर दिया है। पाठकगण वहांसे अवलोकन करे। तो भी चोरी करनेसे मनुष्योंको प्रत्यक्ष दुःख सहन करने पड़ते हैं॥ २७॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप—

जो मनुष्य अपनी विवाहिता स्त्रीको छोडकर अन्य समस्त स्त्रियोंका परित्याग कर देता है तथा अपनी स्त्रीको भी पर्वके दिवसमें सेवन नहीं करता है वह परस्त्री सेवनका त्यागी ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी है। इसका विशेष स्वरूप सात व्यसनोंमें आगया है। ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे क्या लाभ होता है उसकी कथा यह है—

नीलीवाई ब्रह्मचारिणीकी कथा।

लाड देशके अंतर्गत भरोंच नामका एक नगर हैं। वहांका राजा पाल था। उस नगरमें जिनदत्त नामका एक सेठ रहता था।

जिनदत्त सेठकी स्त्रीका नाम जिनदत्ता था। सेठ सेठानी दोनों ही परम धर्मात्मा थे। जिनदत्त सेठके घर एक अनुपम नीलीवाई नामकी कन्या थी। यह कन्या शीलवती और जिनधर्मभक्त थी।

एक दिवस नीलीवाई श्रृंगार कर श्री जिन मंदिरमें भगवानकी पूजा करनेको गई। मार्गमें सागरदत्त नामका युवक इसको देखकर कामसे विह्वल होगया। उसने अपने मनके अभिप्राय एक मित्रसे कहे। मित्रने कहा कि जिनदत्त सेठ जैन धर्मका पक्का श्रद्धानी है। यह मरनेपर भी वौद्धधर्म पालन करनेवालेको अपनी कन्या कभी नहीं देगा। यह कार्य होना असंभव है इसलिये तू हठको छोडकर अपने प्राण नष्ट न कर, परन्तु सागरदत्तको यह वात प्रिय न लगी। इसलिये आग्रह करने लगा तव मित्रने कहा कि जैनधर्म पालन करने लग जाओ तो अवश्य ही यह कार्य सिद्ध होगा। सागरदत्तने मित्रके कहनेसे जैनधर्म धारण कर लिया और जिनदत्त सेठने उसको जैन समझकर अपनी कन्याका विवाह सागरदत्तके साथ कर दिया परन्तु विवाह होते ही सागरदत्त फिर वौद्ध होगया जिससे जिनदत्त सेठको वडा दुःख हुआ। पश्चात्तापसे वह अर्द्ध मृतकके समान होगया और विचारने लगा कि मेरी पुत्री कुआमें गिर पड़ी।

सागरदत्तके माता पिता आदि सव वौद्ध थे परंतु नीलीवाई वहांपर भी जिन धर्मको धारण कर भगवानकी पूजा करनेमें तथा धर्मकी महिमा विस्तार करनेमें अपना समय व्यतीत करने लगी।

एक दिवस नीलीवाईको सासु ससुरने वौद्ध गुरुओंको भोजन करानेका विशेष आग्रह किया और वौद्ध गुरुओंकी प्रशंसाकर उनको त्रिकाल ज्ञानी वतलाया। इतना ही नहीं किंतु जैनके गुरु-

ओंकी खूब निंदा की. जिससे नीलीवाईके मनमें अत्यंत क्षोभ हुआ परन्तु मैं अपने जैन गुरुओंके महिमाकी परीक्षा अवश्य ही वतलाऊंगी और बौद्ध गुरुओंकी परीक्षा करूंगी ऐसा विचारकर उसने भोजन करानेकी स्वीकारता दे दी।

दूसरे दिवस कितने ही बौद्धगुरु नीलीवाईके यहां भोजन करनेको गये । नीलीवाईने उनके त्रिकाल ज्ञानकी परीक्षा करनेके लिये समस्त गुरुओंकी एक एक जूतीको वारीक छीलकर और मिष्टान्नसे सुस्वाद बनाकर बौद्ध गुरुओंको परोसी । जिसको सबने बहुत ही स्वादिष्ट भोजन बना हुआ मानकर वडी २ प्रशंसाके साथ भक्षण किया। भोजन होचुकनेके वाद जब सब गुरु जाने लगे तब अपनी २ एक २ जूतीको न देखकर पूछने लगे कि हम लोगोंकी जूती कहांपर हैं ? नीलीवाईने कहा कि आप त्रिकालज्ञानी हैं, सो आपको माल्म नहीं है कि हमारी जूती कहांपर है ? बौद्ध गुरुओंने कहा कि हमको ऐसा ज्ञान नहीं है। तव नीलीवाईके सासु ससुरने कहा कि तूने जूतियां देखी हों तो वतला, क्यों नहीं देती ? गुरुओंकी हंसी नहीं करना चाहिये क्या ? तब नीलीवाईने कहा कि गुरु त्रिकालज्ञानी होते हैं सो सब जानते नहीं ? इन लोगोंने अपनी २ जूती खा डाली हैं। ऐसा कहते ही एक बौद्धगुरुको वमन कराया गया जिसमें जूतीके टुकडे निकले । जिसको देखकर बौद्ध गुरु अत्यंत लज्जित हुए । सासु ससुर अपनी पुत्रवधूकी यह लीला देखकर अत्यंत क्रोधित हुए और नीलीवाई पर व्यभिचार करनेका मिथ्या कलंक लगाया।

नीलीवाईने श्री जिनमंदिरमें जाकर प्रतिज्ञा करी कि जबतक मेरा यह कलंक दूर नहीं होगा तबतक मैं भोजन नहीं करूंगी।

ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण कर सात दिवस पर्यन्त मंदिरमें प्रभुका ध्यान किया। अंतमें शासनदेवी प्रकट होकर कहने लगी कि वत्से! तू प्राणोंका परित्याग न कर, मैं नगरके दरवाजे बंद कर राजाको स्वप्न देती हूं कि जो कोई शीलव्रती बाई होगी उसके पांवके अंगूठासे ये दरवाजे खुलेगें, ऐसा कहकर शासनदेवी अंतर्धान होगई।

दूसरे दिवस नगरके दरवाजे बंद देखकर राजाने देवीके स्वप्नके अनुसार नगरकी समस्त स्त्रियोंको दरवाजा खोलनेको कहा परंतु किसीसे नहीं खुला तब नीलीबाईको बुलाया गया। नीली-बाईके अंगूठाका स्पर्श होते ही दरवाजे खुल गये तब शासनदेवताने प्रकट होकर सुवर्णके सिंहासन पर नीलीबाईको बैठाकर सुवर्णके कलशोंसे अभिषेक कर पूजा की। और जगतमें उसको परम सती प्रसिद्ध की। राजाने सागरदत्त प्रभृति धर्म ठगोंको पूर्ण दंड दिया।

इस प्रकार शीलके प्रभावसे नीलीबाईकी देवोंसे पूजा हुई। जो कोई शीलको पालेगी उसकी ऐसी ही पूजा होगी।

परिग्रह परिमाणाणुव्रतका स्वरूप—

धन, धान्य, हिरण्य, क्षेत्र, वस्तु आदि प्रकारके परिग्रहका परिमाण कर उससे अधिक ग्रहण नहीं करना सो परिग्रह परिमाणाणुव्रत है।

पर पदार्थोंकी जैसे२ अधिक चाहना की जाय वैसे २ मोह अधिक उत्पन्न होता है। मोहके उदयसे तृष्णाकी वृद्धि होती है। तृष्णा जैसी दुःखदायक है वैसा दुःखदायक अन्य पदार्थ कोई नहीं है। यह जीव अनादिकालसे कर्मोंके आधीन है इसका कारण तृष्णा है। तृष्णाका विजय होगया तोकर्मोंका विजय होगया और

तृष्णासे हार होगई तो संसारसे हार होगई । संसारमें जितने पाप हैं वे सब तृष्णाके ही रूपांतर हैं, इसलिये तृष्णाका विजय करना चाहिये । और इसका उपाय परिग्रहका परिमाण करना है ।

परिग्रहसे कैसे दुःख प्राप्त होते हैं वे इस कथासे मालूम होंगे ।

परिग्रही एक सेठकी कथा ।

चम्पापुरका राजा अभयवाहन था । राजाकी रानी बड़ी दयावती और दुःखी दीन पुरुषोंकी करुणा करनेवाली थी । इस नगरमें एक सेठ रहता था जो रात्रि दिवस तृष्णाकी ज्वालामें निरन्तर जलता ही रहता था । खाना पीना पहरना ओढना आदि किसी बातकी परवाह न कर मात्र तृष्णा हीमें फंसा रहता था । धर्म कर्मके लिये तो कभी भी समय नहीं मिलता था ।

इस सेठके पास बहुतसा धनका भंडार था । रतन मोती हीरा पन्ना आदिके कोठार थे तो भी तृष्णाके लोभमें खाने पीनेमें भी कंजूसी करता था और रात्रि दिवस गंगासे लकडी लाकर बेचनेमें ही अपना समय निकालता था और फटे पुराने कपडे पहनता था ।

इस सेठने एक सोनेका बैल बनवाया था और इसकी जोडी बनवानेके लिये वह धन संग्रह करना चाहता था ।

एक दिवस राजा रानी अपने महलकी छतपर बैठे२ नगरका दृश्य देख रहे थे । तब रानीने इस लोभी सेठको लकडीका लट्ठा लिये हुए देखकर राजासे कहा कि हे स्वामिन् ! इसको धन देकर इसका दुःख दूर कीजिये । रानीकी ऐसी बातको सुनकर राजाने इस सेठको बुलवाया और कहा कि आपको जो कुछ चाहिये सो

मांग लीजिये और सुखसे ज़ीवन व्यतीत करिये । सेठने कहा कि मेरे पास एक बैल है उसकी जोडी बनाना चाहता हूं सो एक बैल दीजिए।

फिर उसने अपने उत्तमसे बैल दिखलाये परंतु सेठने कहा कि मेरे जैसा बैल इनमें एक भी नहीं है । तब राजानें कहा कि तुमारा बैल कैसा है ? सेठने सुवर्णका बैल बतलाया और सेठानीने रत्नोंका थाल राजाको भेट किया । राजा सेठकी विभूति और सेठकी तृष्णाको देखकर आश्चर्यान्वित हुआ ।

सेठ बहुत माल लेकर परदेशमें धनकी तृष्णासे गया, परदेशसे अपार धन कमाकर लाया, परंतु मार्गमें जिहाज टूट जानेसे धन वह गया जिसके दु:खसे पीडित होकर सेठ आर्त्तध्यानसे मरा । मरकर अपने भंडारमें सांप हुआ । सो अपने पुत्रोंको भी धन नहीं लेने देता था इसलिये बडे पुत्रने मार डाला और मरकर नरकमें गया।

देखो तृष्णासे सेठकी कैसी दुर्गति हुई । अधिक तृष्णाका होना दु:खकर होता है ।

इति अणुव्रत वर्णनम् ।

अंतरायका विचार ।

श्रावकको भोजन करते समय निम्न लिखित अंतरायोंका विचार करना चाहिये । यद्यपि अंतराय ७ *प्रकारके हैं तो भी नित्यके

---

*१ देखनेके अतराय—आर्द्रचाम, पीव, मदिरा, आर्द्रहाड, रक्त आदि देखनेसे अंतराय है ।

२ स्पर्श करनेसे अंतराय—शुष्क चाम हाड, बिल्ली, कुत्ता, रजस्वला आदि । इनके छूनेसे अंतराय होती है ।

व्यवहारमें निम्न लिखित अंतरायोंको नियमसे पालन करना ही चाहिये। पीप, मांस, मदिरा, आर्द्रचाम, हाड (आर्द्र) मृतक जीव और भोज्य पदार्थमें बहु जीव (जीवते हुए) दीख पडते हों तो अन्नको छोड देना चाहिये। उस समय फिर दूसरी थालमें भोजन परोसकर भी भोजन नहीं करना चाहिये। क्योंकि गृद्धता तथा परिणामोंकी लोलुपताका नाश इसप्रकार रसना इंद्रियको वश किये विना नहीं होता है॥ २१॥

गुणव्रतका स्वरूप--

दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्डव्रत इन तीनोंको गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रतसे अणुव्रतोंके गुणोंकी वृद्धि होती है। इसलिये गुणव्रतोंका पालन करना अत्यावश्यक है।

दिग्व्रत—

जिस देशमें व्रतभंग होनेकी संभावना हो, जिस देशमें

---

३ सुननेके अंतराय-मंदिर गिर गया, प्रतिमा भंग होगई, गुरुका घात हुआ शास्त्रकी हानि, हुई, और क्रूर शब्द। इत्यादि। सुननेसे अंतराय है।

४ जीव मिश्र अंतराय-भोज्य पदार्थमें जीवित दो से अधिक जीव आजावे तो अंतराय होती है। मृत जीवकी तो अंतराय है ही।

५ त्याग वस्तुका अंतराय—भोजनमें त्याग वस्तु आजावे तो अंतराय है।

६ ग्लानिका अंतराय—यह भोजन मांसके समान है, यह पेय रक्तके समान है ऐसी ग्लानि होनेपर अंतराय होती है।

७ अशक्य अंतराय-जिन जीवोंको भोजनमें पडते ही किसी भी प्रकार जीवित निकाल नहीं सकें, ऐसे एक जीवके पडजानेसे अंतराय होती है।

कुसंस्कारोंकी वृद्धि हो, धर्मके आयतनोंका अभाव हो ऐसे देशमें गमन करनेका यम लेना सो दिग्व्रत है। दिग्व्रतके पालन करनेसे अणुव्रत मर्यादाके बाह्य महाव्रतके रूपको प्राप्त होते हैं।

देशव्रत—

दिग्व्रतके आभ्यंतर क्षेत्रमें अपनी विषय कषायको घटानेके लिये मर्यादासे प्रमाण करना सो देशव्रत है। क्योंकि मर्यादाके बाह्य क्षेत्रमें हिंसादि पंच पापोंका समस्त प्रकारसे पालन होता है। इसलिये देशव्रतसे महाव्रतका लाभ होता है।

अनर्थदंडविरतिव्रत--

झूंठे वजन और तराजू रखना, सांकल आदिका व्यापार करना, विषका व्यापार करना, लाखका व्यापार, शास्त्रोंका व्यापार, हिंसक जीवोंका पालन और व्यापार, आदि व्यापारोंका तथा जिन कार्योंसे जीव हिंसा अधिक हो ऐसे आरम्भका त्याग सो अनर्थ-दण्डत्याग नामका व्रत है। इस व्रतको अन्य शास्त्रोंमें पांच प्रकार माना है—मिथ्योपदेश, हिंसा दान, अपध्यानय, दुःश्रुति और प्रमा-दचर्या इस प्रकार पांच भेद रूप है।

शिक्षाव्रतका स्वरूप--

जिससे मुनिव्रत ग्रहण करनेकी शिक्षा प्राप्त हो अथवा त्याग रूप परिणाम होते हों या ममत्व परिणामके त्यागकी शिक्षा प्राप्त हो वह शिक्षाव्रत है। शिक्षाव्रतके चार भेद हैं—भोग संख्यान त्यागव्रत १, उपभोग संख्यान त्यागव्रत २, अतिथिसंविभागव्रत ३, और सल्लेखनाव्रत ४।

जो एक वार ही भोगनेमें आवे उसको भोग कहते हैं

जैसे तांबूल, फल, भोजन, तेल, नस्य पदार्थ और पेय पदार्थ। भोग पदार्थोंका आवश्यकतानुसार नियमकर अवशेष भोग पदार्थोंका त्याग करना सो भोगसंख्यान त्यागव्रत है।

जो पदार्थ बार २ भोगनेमें आवे सो उपभोग है। जैसे स्त्री, वस्त्र, मकान, वाहन और धन धान्यादिक। उपभोग पदार्थोंकी जितनी आवश्यकता है उनका नियमकर अवशेष पदार्थोंका त्याग करना सो उपभोगसंख्यान त्यागव्रत है। इस व्रतमें ऐसे पदार्थोंका भी त्याग किया जाता है कि जिनके सेवन करनेसे अधिक जीव हिंसा होती हो। ऐसे अभक्ष पदार्थ, अनुपसेव्य पदार्थ और तुच्छ पदार्थोंका भी सेवन करनेका नियम करना चाहिये ॥३७॥

रत्नत्रयकी वृद्धिके लिये, अथवा शासनकी वृद्धिके लिये या मार्गकी स्थिरताके लिये दान देना सो अतिथिसंविभागव्रत है। इस व्रतसे भव्य जीवोंको महान पुण्यकी प्राप्ति होती है। गृहस्थोंको महान पुण्य संचय करनेका मार्ग एक यही है। इस व्रतके पांच भेद हैं। ॥३८॥ १ पात्र, २ दाता, ३ दानविधि, ४ दानका फल और ५ अधिकार।

पात्र—

पात्रके उत्तम, मध्यम, और जघन्य ऐसे तीन भेद हैं। परम निर्ग्रन्थ सर्व सावद्य रहित और परम संयमके धारक मुनीश्वर उत्तम पात्र हैं। एकादश प्रतिमाका धारक गृहस्थ मध्यम पात्र है। और समस्त प्रकारकी विरतिसे रहित गृहस्थ जघन्य पात्र है ॥ ४१ ॥ जिनके जिनागमकी श्रद्धा नहीं है, देव शास्त्र और गुरुमें जिनका विश्वास नहीं है ऐसे मनुष्य कितने ही व्रत, जप, तप और

संयमके धारक हों परंतु वे सब कुपात्र हैं। और सम्यग्दर्शन तथा व्रत चारित्र रहित अपात्र हैं—जो मिथ्या मार्गमें रत हैं, जिनके आचरण और आचार विचार मिथ्या दृष्टियोंके समान हैं वे सब अपात्र हैं।

दाताके गुण--

श्रद्धा, भक्ति, विज्ञान, संतोष, शक्ति, अलोभ और क्षमा ये सात गुण दाताके हैं।

दानकी विधि--

स्थापना—पात्र अपने घरके सामने आया हो तो उसको हे स्वामिन्! आइये! आइये! तिष्ट तिष्ट! आहार पानी शुद्ध है इस प्रकार सन्मान पूर्वक स्थापना करना सो स्थापना विधि है॥ १॥ उच्चासन स्थान—पात्रको उच्च स्थानमें विराजमान करना सो यह दूसरी विधि है। पात्रके चरणकमलोंका प्रक्षाल करना सो तीसरी विधि है। पूजा करना सो चौथी विधि है। प्रणाम करना सो पांचवी विधि है। मन वचन कायकी शुद्धिकी घोषणा करना सो यह छट्ठी विधि है। और आहारकी शुद्धिकी घोषणा सो यह सातवीं विधि है। इस प्रकार दानकी सात विधि हैं। ये ऐल्लक तथा मुनिकी सांगोपांग होती हैं अब शेष पात्रको शक्त्यनुसार की जाती हैं।

दानके भेद—अहारदान, अभयदान, औषधदान, और शास्त्र-दान इस प्रकार दानके चार भेद हैं। इन चारों दानोंमेंसे आहार दान महान् पुण्यका उत्पन्न करनेवाला और मुख्य दान है। परंतु पात्रको देनेसे ही उसकी मुख्यता है। आहार दानके खाद्य, पेय,

अशन और स्वाद्य ऐसे चार भेद हैं। खाद्य–लाडू, बरफी, पेडा आदि पदार्थोंको खाद्य कहते हैं। पेय–दूध पानी आदि पीने योग्य पदार्थको पेय कहते हैं। अशन--रोटी, दाल, भात आदिको अशन कहते हैं। और चटनी इलायची आदि पदार्थको स्वाद्य कहते हैं। आहार दानका पुण्य महान् है। जिसने मुनीश्वरको आहार दान दिया उसको भोग भूमिके सुखोंकी प्राप्ति होती है और देवोंसे उसकी पूजा होती है। मुनिवरको आहारदानके फलसे महाराजा श्रीषेण भोग भूमिके सुखोंको भोगकर शांतिनाथ सोलवें तीर्थंकर कामदेव और चक्रवर्ती हुए। आहारदानका फल महान है। औषधिदान धर्मात्मा, त्यागी, व्रती और संयमी जीवोंको देनेसे वृषभसेना सेठानीके समान पुण्यको प्रदान करता है। और इतर पुरुषोंको औषधिका दान करनेसे भी सुखकी प्राप्ति होती है।

अभयदान–नित्य करना ही चाहिये। मुनियोंको वसतिका आदि बनवाना भी एक प्रकारका उत्तमदान है। शास्त्रदान प्रत्येक भव्य जीवको शास्त्र दान करना चाहिये। शास्त्र दानसे केवल ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। वर्तमान समयमें शास्त्रदानकी खास आवश्यकता है। जिनागमकी वृद्धिके लिये भव्य जीवोंको शास्त्र प्रदान करना सो शास्त्र दान है।

जिस प्रकार उत्तम पात्रमें अल्प बीज भी बहुतसा फल प्रदान करता हैं उसी प्रकार उत्तम पात्रमें स्वल्प भी दिया हुआ दान उत्तम फल प्रदान करता है। इसके विपरीत ऊसर भूमिमें बीज बोनेपर नष्ट हो जाता है। और परिश्रम व्यर्थ जाता है। उसी प्रकार कुपात्र और अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान उत्तम

फल प्रदान नहीं कर सक्ता। बल्कि कितनी ही प्रकारकी हानि होती है। अंधकूपमें द्रव्यको डाल देना अच्छा परन्तु कुपात्र और अपात्रमें दान देकर मिथ्या मार्गकी वृद्धि करना अच्छा नहीं है।

अथवा दीन, दुःखी, अनाथ, असमर्थ आदि पुरुषोंको भी करुणा दान अपनी शक्तिके अनुसार देना चाहिये, रोगी और वृद्ध मनुष्योंकी सेवा करनी चाहिये। परन्तु इन सबमें पात्रको दान देनेके समान उत्तम फल प्राप्त नहीं होता है।

सल्लेखना स्वरूप।

जिसका निवारण न हो सके, जिसमें मृत्युका निश्चय नियम रूपसे होगया हो और जिसका कुछ भी उपाय नहीं हो, ऐसे समय रत्नत्रयकी रक्षाके लिये यत्नपूर्वक शांतिसे प्राणोंका विसर्जन करना सो सल्लेखना है।

सल्लेखना धारण करनेके लिये समस्त प्रकारके परिग्रहका त्यागकर देना नितांत आवश्य है। जब समस्त प्रकारके परिग्रहका निर्ममत्व भाव पूर्वक त्याग हो जावे तब राग द्वेष और मोह भावका भी त्याग कर देना चाहिये। सबसे वैर विरोधका त्याग करवाकर अपने मनसे भी वैर विरोधका त्याग कर देवे। मीठे और प्रेमयुक्त वचनोंसे क्षमा मांगकर सबसे क्षमाकी प्रार्थना करे। अपने जीवनमें मन वचन कायसे जितने दोष उत्पन्न हुए हों उनको मन वचन कायकी शुद्धिसे उच्चारण कर अपने अंतःकरणको निःशल्य बना लेवें। छल रहित—प्रेम पूर्वक और महान् श्रद्धासे जिनागमके पाठोंको श्रवण करे। आहारका त्याग कर दुग्ध रखे, दुग्धका परित्याग कर गरम पानी या छाछ रखे,

छाछका परित्याग कर उपवास धारण करे और अंतमें णमोकार मंत्रका ध्यान करता हुआ समतापूर्वक शांतिसे प्राणोंको विसर्जन करे।

इस प्रकार संक्षेपसे ऊपर कहे हुए व्रतोंको निरतिचार पालन-कर भव्य जीव स्वर्ग मोक्षके फलको प्राप्त होते हैं ।

सामायिक विचार ।

श्री जिनेन्द्र भगवानके उपदेशको समय कहते हैं । समयमें प्रतिपादित आवश्यक कार्योंमें लवलीन होना सो सामायिक है । अथवा श्रेष्ठ कार्यमें प्रवृत्त होना–हिंसादि पाप कर्मोंका परित्यागकर शुभ कार्योंमें प्रवृत्त होजाना सामायिक है । भावार्थ–स्वल्प समयके लिये भी हिंसादि पापोंसे सर्वथा निवृत्त होकर आत्मपरिणतिमें लग जाना सो सामायिक है । अथवा समय आत्माको कहते हैं । इस लिये जिस समय अपनी आत्माके विचारमें तन्मयता प्राप्त होती है वह सामायिक है । अथवा (सं–प्रशस्तं अयः पुण्यं यस्यां क्रि-यायां) जिस क्रियामें प्रशस्त पुण्यकी प्राप्ति हो वह सामायिक है। अथवा पंचपरमेष्ठीके गुणों या नामोंके स्मरणको भी सामायिक कहते हैं । इस प्रकार यह सामायिकका स्वरूप है ।

सामायिक करनेकी विधि ।

आरम्भ और परिग्रहका त्याग कर ही सामायिक करना चाहिये, क्योंकि परिग्रह और आरम्भ त्यागकी मर्यादा किये विना सामायिक प्रशस्त फलको प्राप्त नहीं करता है ।

स्नान कर और विशुद्ध वस्त्र पहनकर ही सामायिक करना चाहिये । मलिन वस्त्र और मलिन शरीरसे सामायिक करना उत्तम फलको प्राप्त करनेवाला नहीं है । मन वचन कायकी स्थिरतासे

ही सामायिक करे क्योंकि मन वचन कायकी चपलवृत्तिसे सामायिककी विशुद्धता प्राप्त नहीं होती है। योग्य समयमें (अकालमें सामायिक करनेसे जिनाज्ञा भंग होती है) एकांत स्थल, जिनालय, वन, शून्यघर अथवा अन्य किसी पवित्र स्थानपर स्थिरतासे सामायिक करे। सामायिकके समय एक दिशामें तीन २ आवर्त, एक एक प्रणाम और दो नति करना चाहिये। सामायिकभक्ति दो अथवा चारको करकर सामायिक करे। सामायिक कायोत्सर्ग पूर्वक स्थित होकर करना चाहिये, शक्ति नहीं हो तो पद्मासन या सुखासनसे भी सामायिक कर लेवे। पंचपरमेष्ठीका ध्यान अथवा महामंत्र मंत्रोंका स्मरण कर सामायिक करना चाहिये। जो भव्य जीव शुभ भावोंसे नियम पूर्वक प्रति दिवस सामायिक करते हैं वे स्वर्ग संपदाको अवश्य ही प्राप्त करते हैं। आर्तध्यान, रौद्र ध्यान अथवा मलिन विचारोंको सामायिकके समय नहीं करना चाहिये। इस प्रकार जो नित्य सामायिकको करता है वह तीसरी प्रतिमाका धारक है।

प्रोषधोपवास विचार—

एक महीनामें चार पर्व दिवस अष्टमी चतुर्दशीके आते हैं। चारों ही दिवसोंमें विशुद्ध भावोंसे प्रोषध सहित उपवास करना सो प्रोषधोपवास व्रत है। इसके उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन भेद हैं। अपनी शक्तिके अनुसार तीनोंमेंसे एकको नियम पूर्वक अवश्य ही करना चाहिये। यह प्रोषधोपवास व्रत कर्मोंको छेदन करनेके लिये समर्थ होता है। इस लिये सावद्यकर्म रहित विशुद्ध भावोंसे इसको करे।

उत्तम प्रोषधोपवासकी विधि—

सप्तमी या तेरसके दिन श्री जिनेन्द्र भगवानके चैत्यालयमें विशुद्ध भावोंसे त्रिलोक पूजित श्री जिनेन्द्र भगवानकी अष्ट द्रव्यसे अभिषेक, गीत, नृत्य और विविध उत्सव पूर्वक पूजा करनी चाहिये। इस दिवस एकाशन कर अपनी शक्तिके अनुसार आरम्भका परित्याग कर प्रोषधोपवासकी विधि-पूर्वक धारणा करे। धारणाके दिवस पात्रमें विधिपूर्वक दान प्रदान करना चाहिये। धारणाके दिवससे अपना समय देवपूजादि षट्कर्मोंमें या सामायिकादि शुभ ध्यानमें लगावे। जिस दिवस धारणा करे उस दिवससे घरके आवागमनको छोडकर श्री जिन भवनमें ही शांतिसे समयको व्यतीत करे। अष्टमी और चतुर्दशीके दिवस शुद्ध वस्त्र पहनकर और अपने गृहसे शुद्ध द्रव्य मंगवाकर भगवानकी पूजा आदि षट्कर्मोंको विशुद्धभावोंसे करे। इस प्रकार अत्यन्त उत्साहके साथ इस दिवसको भी श्री जिनालयमें ही व्य-तीत करे। नवमी और पूनमके दिवस श्री जिन भवनमें भगवानकी पूजा, सामायिक, स्वाध्याय और गुरुभक्ति कर पात्रमें चारों प्रकारके दानोंको प्रदानकर एकाशन करे। इस प्रकार इस दिवसको भी धर्मध्यानमें व्यतीत करे। यह उत्तम प्रोषधोपवासकी विधि है।

मध्यम प्रोषधोपवासमें—

श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजादि सत्क्रियायें तो नियमसे होती हैं, परन्तु जलको छोडकर अवशेष तीनों प्रकारका आहार अष्टमी और चतुर्दशीके दिवस नियमसे त्याग करना चाहिये। अथवा अष्टमी और चतुर्दशीके दिवस उपवास करना भी मध्यम

प्रोषधोपवास है। मध्यमकी दोनों विधिमें धारणा पारणाके दिवस एकाशन नहीं किया जाता है।

जघन्य प्रोषधोपवास-

पर्वके दिवस एकाशन कर धर्मध्यानमें तत्पर रहनेसे होता है। इसके अनेक भेद हैं। अर्थात् एकाशनके बाद जल ग्रहणसे स्थान संख्या रूप अनेक प्रकारसे है।

प्रोषधोपवासके दिवस—

मालाधारण, गंधलेपन, शरीरका उद्वर्तन, तांबूलभक्षण और श्रृंगार जनित कार्योंका परित्याग कर देना चाहिये। पर वस्तुओंसे ममत्व भाव घटे ऐसा आचरण प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये और ज्ञान-ध्यानकी वृद्धि हो ऐसे आचरणोंका पालन करना चाहिये।

सचित्त त्याग विचार—

अपक्व मूल, फल, पत्र, शाक, बीज, करीर और अप्रासुक जलका परित्याग करना सो सचित्तत्याग है। इस व्रतमें साधारण वनस्पति या ऐसे कंद अथवा ऐसे-मूलका कच्चे पक्के सब ही प्रकारका यावज्जीव पर्यन्त त्याग होता ही है। किन्तु जो भक्षरूप हैं ऐसे फल, फूल, पत्र, शाकादिकोंको कच्चे सचित्तरूप सेवन नहीं करे। *सचित्त मात्रका त्याग करे इस लिये कच्चा निमक (लून) पानी या कच्चा धान्य आदिका भी त्याग करे।

षष्ठी प्रतिमाका स्वरूप—

जिस भव्य जीवके परिणीत स्त्री है। परन्तु पूर्वकर्मके उदयसे रागादिक भाव अधिक कम नहीं हुए हैं। पर्वादिक दिवसोंमें और दिवसमें स्त्री संगका नियम रूपसे परित्याग करना सो षष्ठी प्रतिमा

---

*सचित्त त्यागका विशेष स्वरूप मूलाचारसे जानना चाहिये।

है। इसके परस्त्रीके सेवनका तो प्रथमसे ही परित्याग है परन्तु स्व स्त्रीमें विशेष राग नहीं है तो भी पूर्व कर्मके उदयसे मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे सर्वथा त्याग करनेमें असमर्थ होनेसे दिवसमें संगका परित्यागी होता है।

सातवीं प्रतिमाका स्वरूप--

जो ऊपरकी छह प्रतिमाओंको सांगोपांग नियमपूर्वक पालन कर नव प्रकार (मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे) यावज्जीव पर्यन्त स्त्री मात्रका परित्याग करता है सो सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारक है। प्रतिमाओंमें जिसके प्रथम प्रतिमा नहीं है उसके दूसरी प्रतिमा नहीं होगी। व्रतका अभ्यास हो सक्ता है, परन्तु जब तक पूर्वकी समस्त प्रतिमाओंका आचरण पालन नहीं करे और एक स्त्रीका परित्याग कर देवे तो वह ब्रह्मचारी नहीं होगा। जब तक प्रतिज्ञा पूर्वक व्रतोंकी या प्रतिमाकी धारणा नहीं है तब तक वह व्रत या प्रतिमाका धारक नहीं है। ऐसे मनुष्यको ब्रह्मचारी नहीं कह सक्ते हैं।

आरंभत्याग प्रतिमाका स्वरूप--

पापके कारणभूत ऐसे सेवा, कृषि, वाणिज्यादिक (आजीविकाके उपायभूत जिनमें महान् आरम्भके कारण निरंतर पापका ही बंध होता है) आरम्भका त्याग करना सो आरम्भत्याग नामकी आठवीं प्रतिमा है।

इस प्रतिमा धारीके हिंसाजनित समस्त प्रकारके आरम्भोंका त्याग होता है, परंतु वह धार्मिक आरम्भ (भगवानकी पूजा आदिको) कर सक्ता है। एक ही अनुयोगसे त्यागसे होता है। अवशेष अनुयोगोंका नियम नहीं होता है।

परिग्रहत्याग प्रतिमा विचार धारी-

जो वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर अवशेष परिग्रहका मोहरहित त्याग करता है तथा ग्रहण किये हुए वस्त्रमें भी ममत्वभाव नहीं धारण करता है वह परिग्रह त्याग प्रतिमा धारक श्रावक कहलाता है। अपने घरमें रहकर ही परिग्रहका त्याग करता है।

अनुमतित्याग प्रतिमा-

पापके कारण सेवा खेती व्यापार आदि कार्योंमें पुत्रादिकोंके पूछने पर या विना पूछे भी अपनी अनुमति प्रदान नहीं करता है। हिंसाजनित व्यापार आदिकी सलाह नहीं देता है सो अनुमति त्याग प्रतिमाका धारक है। अथवा संसार संवन्धी कार्योंमें जो अपनी संमति प्रदान नहीं करता है वह अनुमतित्याग प्रतिमाधारी हैं। धार्मिक कार्योंमें अनुमति अथवा आज्ञाप्रदान करता है। यहांतक अपने घरमें रहकर व्रत कर सक्ता है।

एकादश प्रतिमाका स्वरूप-

अपने घर, ग्राम आदिका परित्यागकर जो गुरूके समीप व्रताचरणोंको विशेषरूपसे पालन करता है तथा भिक्षाव्रत्तिसे भोजन करता है और अपने निमित्तसे किया हुआ भोजन नहीं करता है वह एकादश प्रतिमा धारक है।

इस प्रतिमाके दो भेद हैं। प्रथम भेदको क्षुल्लक कहते हैं।

क्षुल्लक--

यह खंडवस्त्रका धारण करनेवाला होता है। अपने केशों (बालों)का लोंच भी क्वचित् कर लेता है नहीं तो कैंचीसे कतरवा लेता है। यह विना बुलाये भोजन करनेके लिये नहीं जाता है, अर्थात् कोई इसको भोजनके समय भोजन करनेके लिये बुलानेको आवे तो यह

उसके घरपर थाली आदि एक पात्रमें अथवा पाणिपात्रमें भोजन बैठकर ही कर लेता है । भोजन कर गुरुके समीप जाकर अपनी आलोचना करता है, प्रतिक्रमण करता है और दोषोंका प्रायश्चित ग्रहणकर चार प्रकारके अन्नका परित्याग करता है । इस प्रकार क्षुल्लक संसारभोग और शरीरसे विरक्त होकर अपना समय धर्मध्या-नमें ही व्यतीत करता है । पापारम्भ और विकथाओंको कदापि उच्चारण नहीं करता है। अपनी पूर्व प्रतिमाओंके सत्कृत्योंको निय-मसे पालन करता है ।

ऐलक—

ग्यारहवीं प्रतिमाका दूसरा भेद ऐलक है। दूसरा एक कोपीन मात्र परिग्रहका धारक होता है । यह अपने केशोंका लोंच अपने हाथोंसे करता है । पीछी कमंडलु आदि संयमके उपकरणोंको रखता है और पाणिपात्र आहार करता है । इस प्रतिमा धारक सद्-गृहस्थको वीरचर्या—सिद्धान्तग्रंथोंका पठन, त्रैकालिक योग और शास्त्र निषेध कार्यमें अधिकार नहीं है। यह अनेक प्रकारके आस-नोंसे योगका अभ्यास कर सक्ता है । मुनिके समान निरंतर आहार ग्रहण करता है। नवधा भक्ति और सात गुणों सहित आहार लेता है और अपने समस्त कृत्य मुनीश्वरोंके समान ही करता है। ध्यान, यम, संयम, व्रत, उपवास आदि चारित्रको विशेष वृद्धिगत करता है और जिस प्रकार सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि निरंतर बढती जाय ऐसे आचरणोंको पालन करता है। ज्ञान और चारित्रकी प्रक-र्षतामें ही लीन रहता है ।

ये ग्यारह प्रतिमाओंका पालन पूर्व पूर्व क्रमसे होता है। अर्थात् प्रथम प्रतिमाका सांगोपांग पालन करते हुए दूसरी प्रतिमा पालन होती है। और पहली तथा दूसरी प्रतिमाके समस्त कृत्योंका सांगोपांग पालन करनेके साथ तीसरी प्रतिमा होती है। ऐसा नहीं है कि प्रथम प्रतिमाके आचरण न हों और सातवीं प्रतिमाको धारण कर ब्रह्मचारी हो जाय। इस प्रकार दस प्रतिमाके आचरणोंको पालनकर एकादश प्रतिमाको धारण करे। जो मनुष्य पूर्वपालित व्रतोंकी निर्दोष रक्षा कर प्रतिमा धारण करता है वह देववंद्यपदको प्राप्त होता है उसे स्वर्गके सुख सरलतापूर्वक प्राप्त होते हैं।

देश विरक्त श्रावकके कर्तव्य।

देश विरक्त श्रावकको विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजा अपनी शक्तिके अनुसार आगम प्रमाणसे करना चाहिये।

विनयके भेद—

विनयके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार ऐसे पांच भेद हैं। उत्तम गुणोंकी प्राप्तिकी चाहनासे उन गुणोंका तथा उनके धारक पुण्य पुरुषोंका सन्मान, पूजा, आदरसत्कार, सुश्रूषा, स्तवन प्रणाम, उच्चासन प्रदान, अंजलि प्रदान आदि कार्य करना सो विनय है। अथवा गुणोंमें विशेष होनेसे गुणोंको धारण करना। गुणोंकी श्रद्धासे गुणोंमें तन्मय होजाना सो विनय है।

दर्शन विनयका स्वरूप—

प्रथम निःशंकित आदि गुण जो सम्यग्दर्शनके वर्णन किये उनको उत्साह पूर्वक बड़ी भक्तिसे अंतःकरणकी निष्कपट श्रद्धासे धारण करना सो दर्शन विनय है। अथवा निष्कपट भावोंसे

आत्मादि तत्वोंका श्रद्धान करना सो दर्शन विनय है। सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले भव्य जीवोंका सन्मान करना सो भी दर्शन विनय है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरुको ही आत्माके कल्याणकर्ता मानना सो भी दर्शन विनय है।

सम्यग्ज्ञानका विनय—

जिनागमको सत्य एवं प्रमाणित आगम समझकर निष्कपट भावोंसे आत्मकल्याणके लिये जिनागमका अभ्यास करना सो ज्ञान विनय है। अथवा द्वादशांग आगमसे ही मोक्ष मार्गका विकाश होगा ऐसा जानकर पाठशाला स्थापन करना या शास्त्र दान करना आदि कारणोंसे द्वादशांगका प्रचार करना सो भी ज्ञान विनय है। अथवा जिनागममें द्वेष या मिथ्या अज्ञानसे लगाये हुए मिथ्या अवर्णवादोंको दूर करना सो भी ज्ञान विनय है। ज्ञान धारियोंका विनय करना सो भी ज्ञान विनय है।

चारित्र विनय—

निरवद्य चारित्र ही से मोक्षमार्गका विकाश होगा ऐसे विचारसे चारित्र धारण कर श्रेयोमार्गकी वृद्धि करना सो चारित्र विनय है। अथवा जिनागमके अनुसार अहिंसाणुव्रतोंका पालन करना सो भी चारित्र विनय है। अथवा निर्ग्रंथ लिंगसे ही आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होगी ऐसा दृढ़ श्रद्धान कर निर्ग्रंथ लिंगको धारण करना, चारित्र विनय है। अथवा वर्णाश्रमके अनुसार अपने २ वर्णके योग्य संस्कार, आचार विचार, विवाह और धार्मिक आचरणोंका पालन करना सो भी चारित्र विनय है। चारित्र धारक गुरुओंका तथा अपनेसे उच्च चारित्रको धारण करनेवालोंका विनय करना सो चारित्र विनय है।

तप विनय—

तपसे ही कर्मोंका नाश होता है ऐसा जानकर तपके धारणमें लवलीन होना अथवा तप धारकोंका विनय करना सो तप विनय है। उपवास आदिक १२ प्रकारके तपोंको धारण करना सो तप विनय हैं।

उपचार विनय-

मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदनासे दर्शन ज्ञान चारित्र तथा उनके धारकोंकी विनय करना सो उपचार विनय है। मन विनयका स्वरूप—कुत्सित और कुटिलभावोंको छोडकर निष्कपट पूर्वक दर्शन ज्ञान चारित्रादिक तथा उनको धारण करनेवालोंकी प्रशंसा करना, उनको पूज्य समझना, उनको मंगलरूप समझना, श्रेष्ठ समझना तथा शरणभूत समझना सो मन विनय है। मनसे अन्य मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचरण तथा उनको धारण करनेवालोंके अनेक चमत्कार देखनेपर भी मिथ्या समझना सो मनोविनय विनय है। वचन विनय—दर्शन ज्ञान चारित्र तथा उनको धारण करनेवालोंकी स्तुति करना, सन्मान करना, उनको पूज्यताके शब्दोंसे सम्बोधन करना तथा हितमित बोलना सो वचन विनय है। काय विनय—देव शास्त्र गुरु तथा दर्शनज्ञानचारित्रको भक्तिपूर्वक हाथ जोडना, उच्चासन देना, प्रणाम करना, सन्मुख जाना, पीछे २ हाथ जोडके चलना, उनकी आज्ञाके आधीन होना, उनको अपना हितकारी मानना, उनकी सेवा करना, वैयावृत्य करना आदि कायविनय है ॥ ९२ ॥

यह विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदसे दो प्रकार है।

देव और गुरुके परोक्ष वीतराग (जिनागमकी आज्ञा)की आज्ञाको ही साक्षात देव और गुरु मानकर प्रत्येक कार्य जिनागमकी आज्ञाके अनुसार करना सो परोक्ष विनय है। अथवा धर्मकी प्रवृत्ति आगमके अनुकूल रखना सो भी परोक्षविनय है।

गुरुके प्रत्यक्ष होनेपर वैयावृत्य आदि करना सो प्रत्यक्षविनय है। धर्मके आयतन चैत्य. चैत्यालय, तीर्थ, माला, शास्त्र, उपकरण आदिको महान भक्तिसे उच्चासनपर विराजमान करना, पवित्र शरीर और वस्त्रसे स्पर्श करना आदि प्रत्यक्ष विनय है। मुनियोंको आहार देना, त्यागी संयमी जनोंकी पूजा करना सो भी प्रत्यक्षविनय है। सम्यग्दर्शनके धारक जनोंका आदरसत्कार, प्रभावना, पूजा, सन्मान और प्रशंसा आदि करना सो भी प्रत्यक्ष विनय है।

विनय करनेका फल—

विनय करनेसे चन्द्रके समान निर्मल कीर्ति, सौभाग्य, भाग्यका उदय, विश्वासता और वचनोंकी महिमा प्रकट होती है। विनयके समान तीन जगतमें अन्य कोई भी मित्र नहीं है, क्योंकि विनयसे ही समस्त विद्याएं सिद्ध होती हैं। विनय करनेसे शत्रु भी मित्र होजाता है। इसलिये श्रावकोंका प्रथम कर्तव्य है कि वे विनयको अपना मुख्य कर्तव्य समझें, और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा उनके धारकोंका विनय करें।

वैयावृत्यका स्वरूप—

बाल, वृद्ध, रोगी, असमर्थ और क्लेशित संयमीजनोंका अथवा चार संघका वैयावृत्य, सेवा, सुश्रूषा, पादमर्दन और अनेक प्रकारके कार्य करना चाहिये। वैयावृत्य करनेसे शरीरमें कांतिके साथ २ तप, व्रत, शील, संयम, चारित्र, समाधि और निर्भयता

आदि गुण प्राप्त होते हैं इसलिये वैयावृत्य करना मोक्ष मार्गका कारण है। जो मनुष्य विशुद्ध भावोंसे छलकपट रहित संयमीजनोंके गुणोंकी प्राप्तिके लिये वैयावृत्य करते हैं वे विद्या, लक्ष्मी, कीर्ति, सौभाग्य और सदाचार आदि उत्तमगुणोंको प्राप्त होते हैं। वैयावृत्य करनेवालेको तीन जगतमें कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है। जिसने वैयावृत्यकर संयमी जनोंकी मोक्षमार्गमें स्थिरता की है अथवा दर्शन ज्ञान चारित्र और तपको स्थिरतासे रखा है उसने मोक्षमार्गमें स्थिरता रखी है इसलिये वैयावृत्यके समान मोक्षमार्गको स्थिर करनेवाला अन्य कोई गुण नहीं है। जिसने वैयावृत्यकर धर्मकी साधनिका कराई उसने धर्मकी सिद्धि की इससे और अधिक क्या फल हो सक्ता है।

कायक्लेशका स्वरूप--

अपनी शक्तिके अनुसार आचाम्ल (चावलके माड जिसमें निमक आदि दूसरा पदार्थ न हो वह आम्ल) एकभुक्ति, उपवास, वेला, तेला, चोला, पांच उपवास आदिके द्वारा अपने शरीरसे ममत्वभावको कसकर इंद्रियोंका विजय करना है वह कायक्लेश नामका तप है।

कायक्लेश तपका फल—

कायक्लेशतपके धारण करनेसे जीव अपनी शुद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है। जिस अग्निके संयोगसे सुवर्ण कीट कालिमादि दोष रहित विशुद्धताको प्राप्त होता है ठीक उसी प्रकार जीव कायक्लेश-तपके द्वारा कर्ममलसे रहित होकर परम विशुद्धताको प्राप्त होता है। कायक्लेश आदि तपको पालन करनेसे जीव कर्मोंका नाशकर

इन्द्रादि देवोंसे पूज्य होते हैं और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंतवीर्य और अनन्त सुखको प्राप्त होते हैं ।

पूजा प्रकरण ।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनागम, जिन धर्म, जिनचैत्य, जिन चैत्यालय और जिन तीर्थ आदिकोंकी अपनी शक्ति और निष्कपट भक्तिसे अनेक प्रकारसे पूजा करना सो पूजा है । पूजाका अर्थ सन्मान या आदर सत्कार करना होता है । साधारण पुरुषोंका आदर सत्कार हम लोग व्यवहार रीतिसे करते हैं परन्तु अरहंत आदि पंच परमेष्ठी अलौकिक गुणोंकी साक्षात् मूर्ति हैं, उनसे ही सर्वोच्च गुणोंकी प्राप्ति होती है अतएव उनकी पूजा कुछ विशेषरूपसे होती है । वह विशेपता पात्रकी विशेपतासे भिन्न २ प्रकार होती है । पूजाके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस प्रकार छह भेद हैं ।

नाम पूजाका स्वरूप–

शरीर तथा वस्त्रादिकोंकी विशुद्धता पूर्वक पंचपरमेष्ठी भगवानके अपूर्व गुणोंमें आन्तरिक प्रेमसे विशुद्ध क्षेत्रमें पुष्प आदि रखकर पंचपरमेष्ठीके नामोंका उच्चारण करना सो नाम पूजा है। सहस्र–नाम पढ़कर अर्घ चढाना अथवा भगवानके गुणोंको द्योतन करनेवाले नामादिकोंका उच्चारण कर पूजा करना अथवा प्रभुके नाम लेकर पुष्प आदि चढ़ाना सो नाम पूजा है । इस पूजाके करनेसे श्रावकके ज्ञान, भावना तथा परिणामोंमें प्रभुके गुणोंसे परम हार्दिक प्रेम प्रकट होता है और अपनी आत्माके स्वरूपका भान होता है । कभी २ तो इस पूजासे प्रभुके गुणोंमें साक्षात् तन्मयता प्राप्त होती है ।

स्थापना पूजाका स्वरूप--

अरहंतादि पञ्चपरमेष्टी पुरुषोंकी काष्ट, पाषाण, सुवर्ण, चांदी आदि धातुओंमें स्थापना करना सो स्थापना है। स्थापना पूजाका भाव गुणोंका आरोपण करनेसे होता है। प्रत्यक्ष वस्तुके अभाव होनेपर उस वस्तुका अन्य वस्तुमें स्थापन करना सो स्थापना है। जैसे सम्राटकी स्थापना गवर्नर जनरलमें होती है। स्थापनाका फल मूल वस्तुसे जो होना चाहिये वही होता है। जो अरहंत भगवानकी प्रत्यक्ष पूजासे फल होता है वही फल अरहंत भगवानकी स्थापनासे होता है इसलिये स्थापना पूजा परमावश्यक है। स्थापना पूजामें प्रतिष्ठा किये विना सातिशयता तथा गुणोंकी आरोपणता नहीं आती है। इसलिये प्रतिष्ठित प्रतिमा ही पूजा करने योग्य होती है।

स्थापना पूजा तदाकार और अतदाकारसे दो प्रकार है। अरहंत भगवानका जैसा आकार है, जैसी मुद्रा है, जैसा स्वरूप है वैसा ही सब आकार सांगोपांग निर्माणकर फिर स्थापना करना सो तदाकार स्थापना है। जैसे पाषाणकी मूर्तिमें अरहंत भगवानकी स्थापना सो तदाकार स्थापना है। अतदाकार स्थापना उसे कहते हैं जिसमें मूल पदार्थका आकारादि न हो जैसे सतरंजमें बादशाह, हाथी, घोडे आदिकी स्थापना।

इस हुंडावसर्पिणी कालमें मिथ्यात्वका प्रचार अत्यधिक है इसलिये अरहंत प्रभुकी अतदाकार स्थापना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि यह स्थापना सच्चे देवोंकी है या मिथ्या देवोंकी है? इसकी कुछ विशेष पहिचान न होनेसे अतदाकार स्थापनासे संदेह उत्पन्न

होजाता है इसलिये अतदाकार स्थापना इस समय जिनागमकी आज्ञासे निषेध की गई है।

स्थापनाके विना गुणोंका मार्ग व्यक्त नहीं होता है इसलिये स्थापनाकी खास आवश्यकता है। मूर्तिपूजाके विना अमूर्तीक गुणोंकी प्राप्ति नहीं होसक्ती क्योंकि ध्यान मनकी एकाग्रतासे होता है और चपल मन को वश करनेके लिये मूर्ति पूजाकी खास आवश्यकता है ॥ ८ ॥

मूर्तिके पांच अधिकार शास्त्रोंमें वर्णन किये हैं। उनका वर्णन प्रतिष्ठादि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। वे पांच अधिकार ये हैं— निर्मापक, इन्द्रप्रतिमा, प्रतिष्ठा, लक्ष्य और उनका फल। ये पांच अधिकार सद्भाव स्थापना (तदाकार स्थापना) में करना चाहिये।

निर्मापक—मूर्तिको विधिपूर्वक परम भक्तिसे निर्मापण करानेवाला भव्य श्रावक निर्मापक कहलाता है। इन्द्रप्रतिमा यह प्रतिमा वनानेकी एक विधि है। प्रतिष्ठा-पंचकल्याणकोंका विधिपूर्वक करना सो प्रतिष्ठा है। प्रतिमाके लक्षण आगमके अनुसार जानकर यथायोग्य विधिसे प्रतिमाको बनवाना सो प्रतिष्ठा लक्षण है और प्रतिष्ठा करानेसे इन्द्रादि फलोंकी प्राप्ति करना सो तत्फल है। निर्मापकादिकोंका लक्षण तथा विस्तारसे वर्णन प्रतिष्ठाग्रन्थोंसे जानना।

द्रव्यपूजाका वर्णन—

जल गंधादिक द्रव्योंसे परमेष्ठी भगवानकी पूजा करना सो द्रव्य पूजा है। अथवा द्रव्यका पूजन सो द्रव्य पूजन है। भावार्थ-द्रव्य पूजा दोनों प्रकारसे होती है। जल चन्दन अक्षत आदि अष्ट द्रव्यसे पूजन करना उसको भी द्रव्य पूजा कहते हैं और जिसकी

पूजा करते हैं वह भी द्रव्य है। उस द्रव्यकी पूजाको द्रव्य पूजा कहते हैं। द्रव्य पूजाके तीन भेद हैं-चेतनद्रव्य, अचेतनद्रव्य और मिश्रद्रव्य।

चेतनद्रव्यका स्वरूप—अरहंत परमात्माका साक्षात् सचेतन संयुक्त शरीर सचेतन द्रव्य है। ऐसे सचेतन द्रव्यका (समोसरणमें अरहंत भगवानकी) प्रत्यक्ष पूजन करना सो सचेतन द्रव्य पूजन है।

अचेतन द्रव्य पूजन—तीर्थंकर भगवानका जब निर्वाण कल्याणक होता है तब जो भगवानके अचेतन शरीरकी पूजा की जाती है उसको अचेतन द्रव्य पूजा कहते हैं।

जिनागमका पूजन भी अचेतन द्रव्य पूजन है। इसी प्रकार चैत्य, चैत्यालय, तीर्थ आदिका पूजन भी अचेतन द्रव्य पूजा है। धर्मकी पूजा, रत्नत्रयकी पूजा यह सब गुण पूजा है।

मिश्रद्रव्य पूजा—अरहंत भगवानके शरीरकी समवसरणमें पूजा करना सो मिश्र पूजा है। आचार्य उपाध्याय और साधुकी पूजा भी मिश्र द्रव्य पूजा है।

क्षेत्र पूजाका स्वरूप—

अरहंत प्रभुके जन्म कल्याणिक भूमि, तप कल्याणिक भूमि, केवलज्ञान कल्याणिक भूमि, निर्वाण कल्याणिक भूमि, जिस स्थानमें तीर्थंकरादिकोंके अतिशय प्राप्त हुए ऐसी भूमि तथा मुनियोंकी विहार भूमि आदि भूमियोंकी पूजा करना सो क्षेत्र पूजा है। तीर्थ पूजा करते हैं वह सब क्षेत्र पूजाका ही स्वरूप है।

---

१ आचार्य, उपाध्याय एवं साधु आदिकी प्रत्यक्ष पूजा द्रव्य चेतन पूजा है। सिद्ध भगवानकी आत्माका पूजन परोक्ष द्रव्य पूजन है।

काल पूजा—जिस समय अथवा जिस दिवस अरहंत तीर्थंकर प्रभुके पंचकल्याणिकादि महोत्सव हुए हों, उसी समय उसी दिन पूजा करना सो काल पुजा है। जैसे वीर प्रभुके निर्वाणका समय कार्तिक वदी १४ के रात्रिके अन्तप्रहरमें हुआ है उस समय और उसी दिवस लाड्डू आदि विविध द्रव्योंसे पूजन करना सो काल पूजा है। बहुतसे वृतोंका समय भिन्न २ होता है सो तदनुसार (जैसा समय व्रतोंमें कहा है) उसी समय पूजन करना सो काल पूजन है। आष्टान्हिक पर्वके दिवसोंमें भक्तिपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार महामह पूजा की जाती है वह भी काल पूजा है। भादोंमें दशलाक्षणी धर्मकी पूजन करना सो भी कालपूजा है। काल पूजामें यह बात ध्यान रखने लायक है कि जिस व्रतमें या कल्याणिकमें रात्रिका समय ग्रहण किया हो तो वह पूजा भी रात्रिमें उसी समयपर करना चाहिये। अपने मनसे कालका भेद नहीं करना चाहिये। तथा आगमके द्वारा प्रतिपादित निषिद्धकालको छोड़कर पूजन करना चाहिये।

भाव पूजाका स्वरूप—अरहंत प्रभुके अनंतज्ञानादि गुणोंका स्मरणकर अपने परिणामोंको उन गुणमय बना लेना सो भाव पूजा है अथवा गुणोंकी पूजा सो भाव है। तीनों समय श्री जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका स्मरण ध्यान पूजन धारण चिंतवन आदि करना सो गुण पूजन है। अथवा रत्नत्रयादि गुणोंकी पूजा करना सो भाव पूजा है।

इस प्रकार पूजाके छह भेद हैं। श्रावकोंका सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि महान उत्साहपूर्ण अनुराग और आंतरिक

भक्तिसे अष्टद्रव्यद्वारा मंत्राक्षरोंसे जिनागमकी आज्ञानुसार पूजन करना चाहिये। जो भगवानकी पूजा करते हैं वे धन्य हैं। जो भगवानकी पूजा करते हैं उनकी देवोंसे पूजा होती है। समस्त प्रकारके विघ्न भगवानकी पूजासे नाश होजाते हैं और सर्व प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं।

भाव पूजाका विशेष स्वरूप।

पंचपरमेष्ठीके वाचक णमोकार मंत्रकी या दूसरे पदोंकी जाप करना, स्तवन करना, चिंतवन करना, ध्यान करना, और गुणोंमें तन्मय होजाना सो भाव पूजा है अथवा पिंड ध्यान, पदध्यान, रूपध्यान और रूपातीतध्यानसे आत्माके स्वरूप (अमूर्तीक स्वरूप और अमूर्तीक अनंतज्ञानादि गुणोंका) का ध्यान करना सो भी भाव पूजा है।

पिंडस्थ ध्यानका स्वरूप—आठ प्रतिहार्यसे विभूषित अष्टादश दोष रहित अतींद्रिय केवलज्ञानकी धारक ऐसी साकार अरहंत भगवानकी आत्मा शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है व कर्ममल रहित होने कारण अतींद्रिय गुणोंसे पूर्ण व्यक्त हैं। ऐसे अरहंत भगवानके स्वरूपका ध्यान करना सो पिंड ध्यान है।

आत्माका असली स्वरूप चार घातियाकर्मोंके नाश होनेपर व्यक्त होता है। उस समय आत्मा निर्विकार, निर्द्वंद्व, निरामय, निराकुल और सर्वथा निर्दोष होजाता है। उसलिये करोडों सूर्योंसे भी अधिक तेज रूप और परम निर्मल होजाता है ऐसी आत्माको सकल (शरीरसहित) परमात्मा कहते हैं। तीर्थंकर प्रभुके इस अवस्थामें आठ प्रतिहार्य और समोसरणादि बाह्य लक्ष्मी व्यक्त

होती है और अनंत चतुष्टयरूप आभ्यंतर लक्ष्मी प्रकट होती है ऐसे शरीर सहित विशुद्ध आत्माका ध्यान करना सो पिंडस्थ ध्यान है।

अथवा अपने शरीरमें—पदसे लेकर कमरके नीचेके भागको अधोलोक, नाभि पर्यन्त भाग (जो शरीरमें मध्यस्थानमें है) को मध्यलोक, नाभिको मेरु, कंधे पर्यन्त स्थानको स्वर्ग, गलेके स्थानको ग्रैवेयक, ठोडीके स्थानको अनुदिश, मुखके स्थानको पंच पंचोत्तर, ललाट स्थानको सिद्धशिला, और शिखाके स्थानको लोकका अग्र-भाग इस प्रकार कल्पना करे। भावार्थ—इस कल्पनासे अपने शरीर-को त्रिलोकका समस्त स्वरूप मान लेवे। फिर उस स्वरूपसे अशुद्ध आत्माके स्वरूपका और शुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान करे इस प्रकारके ध्यानको भी पिंडस्थध्यान कहते हैं।

पदस्थ ध्यानका स्वरूप—पंचपरमेष्ठीके स्वरूपको व्यक्त कर-नेवाले एक अक्षर रूप अथवा अनेक अक्षर रूप मंत्रोंका उच्चारण कर पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना सो पद ध्यान है। भावार्थ—शब्द वर्गणाको पद कहते हैं। शब्दोंमें भी अचिंत्य शक्ति है, क्योंकि अमूर्तीक आत्माका स्वरूप या उसके गुण शब्दोंसे भी कथंचित् व्यक्त होजाते हैं और इस अवलंबनसे अमूर्तीक आत्माका ध्यान होजाता है इसलिये पदोंद्वारा ध्यान करना सो पदस्थ ध्यान है।

जिस पदमें अ प्रथम अक्षर है और रेफ सहित हकार द्वितीय अक्षर है। ऐसे अर्ह शब्दमें अनुस्वारका संयोग करनेसे 'अर्हं' पद बन जाता है। यह पद समस्त पापोंका चूर करनेवाला, और चिरकालके मोहरूपी अन्धकारको नाश करनेवाला है इसलिये भव्य जीवोंको महा निर्मल इस पदका ध्यान करना चाहिये।

चार पांखुडीके मध्यम गोलाकार स्थानवाले कमलमें क्रमसे अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्व साधुको लिखकर ध्यान करे। अथवा " अ सि आ उ सा " लिखकर ध्यान करे। यह मंत्र भी सर्व सिद्धिको प्रदान करनेवाला है।

इसका मंत्र यह है " ओं ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा नमः अथवा " ओं ह्रीं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः " अथवा " ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उ सा नमः।"

इसका ध्यान करनेसे नियम पूर्वक सिद्धि होती है, आत्म-लाभ होता है, स्वात्मस्वरूपका चिंतवन होता है और समस्त प्रकारका अज्ञान नष्ट होता है।

इसका मंत्र ओं ह्रीं अ सि आ उ सा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-तपसे नमः। अथवा " ओं ह्रीं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसे नमः " अथवा ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अर्हं असिआउसा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसे नमः। इस मंत्रकी जाप देनेसे सर्व प्रकारके पाप नष्ट होजाते हैं और सर्व प्रकारकी सिद्धि होती है।

इसका मंत्र " ओं ह्रीं अर्हत् सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधु-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसे नमः "

इस मंत्रका ध्यान करनेसे समस्त प्रकारके पाप छूट जाते हैं व नित्य नये २ मंगल प्राप्त होते हैं।

रूपस्थ ध्यानका स्वरूप—निर्मल आकाशके समान अत्यंत दे-

दीप्यमान, आठ प्रातिहार्यसे शोभायमान, शत इन्द्रोंसे वंदनीक, अनंत ज्ञानादि आत्मीक गुणोंसे व्यक्त, समस्त दोष रहित परम-विशुद्ध, त्रिलोकके ज्ञाता, त्रिलोकके द्रष्टा ऐसे अरहंत भगवानके रूपको आकाशतत्वकी कल्पनाकर और उसके मध्य भागमें स्थित होकर ध्यान करनेको रूपस्थध्यान कहते हैं।

अथवा जलतत्वके चिंतवनसे अरहंत प्रभुके स्वरूपका ध्यान करना सो भी रूपस्थ ध्यान है। इसका स्वरूप यह है। क्षीर समुद्रके समान विस्तृत ऐसे आकाशमें क्षीरसमुद्रकी कल्पना कर उसके मध्यभागमें एक सुंदर कमलपर अपनेको विराजमान कर चन्द्रके समान देदीप्येमान, परम निर्मल, अनंत ज्ञानादि गुणोंसे व्यक्त त्रिलोकको प्रकाश करनेवाले, क्षीरधाराके समान अत्यन्त धवल महा मनोहर ऐसे अरहंत भगवानको अपनी आत्मामें धारणकर अपनेको अरहंतरूप मानकर ध्यान करना सो भी रूपस्थध्यान है। इसी प्रकार अग्नि तत्वादिकोंके द्वारा अपनी आत्माको अरहंतके स्वरूपमें धारणकर चिंतवन करना सो रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत ध्यानका स्वरूप--आत्माका असली स्वरूप निकल परमात्मा सिद्धोंके समान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, समस्त प्रकारके कर्मोंसे अत्यन्त रहित सर्वथा निरावरण, परम अतीन्द्रिय, परम अमूर्तीक, अनन्त ज्ञानादि गुणोंसे व्यक्त, परम देदीप्यमान, परम स्वतंत्र, निर्विकल्प, शांत, निर्विकार, अनुपम, निर्द्वन्द्व और अचिंत्य है ऐसे आत्माके स्वरूपका ध्यान निराकार और रूपातीत होनेसे अपने स्वभावमें परणत (तन्मय होकर) होकर करना सो रूपातीत ध्यान है।

अथवा अरहंत भगवानके स्वरूपको सिद्धोंकी आत्माके समान निराकार, निरावरण, अमूर्तीक स्पर्श रसादि कर्म सम्बन्धसे सर्वथा रहित, परम शांत, अक्षय, अव्याबाध, निराकुल, परम सूक्ष्म और अनंत गुणोंसे व्यक्त मानकर अरहंत भगवानके स्वरूपको अपनी आत्मामें धारण कर "मैं सिद्धोंके समान रूपातीत हूं" ऐसा प्रतीतिवाला ध्यान करना सो रूपातीत ध्यान है। यह ध्यान विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीवको परम चारित्र धारण करनेपर ही होता है।

इस प्रकार छह प्रकारकी पूजाका संक्षेप वर्णन किया है। अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक भगवानकी पूजा नित्य करना ही चाहिये। गृहस्थोंका आद्य कर्तव्य भगवानकी पूजा करना है, परन्तु आगमके अनुसार विधिपूर्वक की हुई भगवानकी पूजा विशेष फलप्रद होती है। इसलिये मंत्र सहित विधिपूर्वक भगवानकी पूजा करना चाहिये।

पूजाका फल।

जो भव्यजीव भगवानकी पूजा नित्य भावपूर्वक करते हैं वे देवताओंसे पूजित होकर परमात्माके समान ही हो जाते हैं। उनके सर्व विघ्न नाश हो जाते हैं, सर्व प्रकारकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है, सर्व प्रकारकी लक्ष्मी प्राप्त होती है, पुत्र मित्र सम्पदा प्राप्त होती है, सर्व प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं और मनके मनोरथ पूर्ण होते हैं इसलिये भगवानकी नित्य पूजा करना चाहिये। पूजाके समान और किसी कार्यमें पुण्य नहीं है। पूजाके समान अन्य सिद्धिका मार्ग नहीं है पूजाके समान सुख और शांतिका और कोई मार्ग नहीं है, इसलिये प्रयत्नपूर्वक विशुद्धभावोंसे भगवानकी पूजा करो।

जो भव्यजीव–कुस्तम्भ प्रमाण (जयाका वृक्ष जिसको भाषामें जासूस कहते हैं) भी अत्यन्त छोटा श्री जिन मंदिर वनवाकर और उसमें प्रतिमा स्थापन करता है वह त्रिलोकमें वंदनीक पदको प्राप्त होता है। श्री जिनभवन वनवाकर और उसकी प्रतिष्ठाविधिसे प्रतिष्ठा कराकर जो भव्यजीव प्रतिमा विराजमान करता है वह अरहंतके समान पूज्य होता है। उसके समान पुण्यात्मा अन्य कोई नहीं है–वह महान पुण्यशाली धर्मधुरन्धर है।

जो भव्यजीव वडा मंदिर बनवाकर और उसमें प्रतिमा विराजमान कर प्रतिष्ठाविधिसे प्रतिष्ठा कराकर भक्तिपूर्वक पूजा करता है। उसकी महिमाको कौन वर्णन कर सक्ता है। ऐसे पुण्य पुरुष शीघ्रही संसारका नाशकर अविचलसुख (मोक्ष सुख)को अवश्य ही प्राप्त होंगे।

श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजा करनेसे देवोंसे पूज्य होता है। भगवानके गुणोंका स्तोत्र पढ़नेसे स्तुतिका पात्र होता है। वन्दना करनेसे देवोंसे वन्दनीक होता है और प्रभुका ध्यान करनेसे तीन जगतमें प्रसिद्ध हो जाता है। इस लिये प्रभुकी वन्दना, स्तवन ध्यान आदि प्रकारसे पूजा करना चाहिये।

इस प्रकार गृहस्थोंकी एकादश प्रतिमाका स्वरूप तथा गृहस्थोंके चारित्रका स्वरूप किंचित मात्र कहा है। विस्तार जिनागमसे जानना चाहिये। जो भव्यजीव निर्मल भावोंसे इस चारित्रको धारण करता है वह स्वर्गोंके सुखको भोगकर क्रमसे मोक्ष सुखको प्राप्त होता है व तीन जगतमें मान्य सदाचारी और विवेकी होकर समतासे संसारके सुखको भोगकर यश कीर्तिका पात्र बनता है।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय)से ही सर्व सिद्धि होती है-अर्थात् तीनोंकी एक साथ आवश्यक्ता।

जो भव्यजीव तपसे विभूपित है वह चाहे कनिष्ट (दीन-दरिद्र और अधम) क्यों नहीं हो तो भी गुणोंसे भूषित है परन्तु जो जीव तपको पालन नहीं करता है। वह चाहे कैसा ही उच्च क्यों न हो परन्तु गुणोंसे रहित वह सबसे अधिक पतित है।

जिसको स्वल्प भी ज्ञान है-कुछ भी अपनी भलाई बुराई समझता है या थोडासा भी पढा लिखा है वह ज्ञानी पुरुष बनकर भी जो चारित्रका पालन नहीं करे-हीनाचारी अभक्षभक्षण करने-वाले सब प्रकारके पापाचरणोंको सेवन करनेवाले और विवेकरहित आचरण करनेवाले अज्ञानियोंके समान अपने कार्य करे तो ऐसे ज्ञानियोंसे अज्ञानी रहना बहुत अच्छा है क्योंकि अज्ञानी पदार्थोंका स्वरूप नहीं जानता है इस लिये पापाचरणकर मंद बंधको प्राप्त होता हैं परन्तु ज्ञानी सर्व पदार्थोंके स्वरूपको जानकर भी पापा-चरण करता है इस लिये तीव्रबंधका अधिकारी है।

आजकल पढे लिखे अपनेको ज्ञानी माननेवाले सबसे अधिक भ्रष्टाचारी बने हुए हैं उनके विचार भी सबसे अधिक भ्रष्ट और स्वार्थसे पूर्ण हैं। ऐसे ज्ञानीकी अपेक्षा धर्माचरणोंको पालन करनेवाले सरल विवेकी और विचारवान अज्ञानी बहुत ही अच्छे हैं।

पापाचरणोंको धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंका ज्ञान कुत्सित पुरुषको अलंकार धारण करनेके समान निंद्य है। बहुतसे ज्ञानकी अपेक्षा स्वल्प चारित्रका पालन करना बहुत अच्छा है।

ज्ञान सहित चारित्र आगामी समयमें होनेवाले कर्मोंके बंधको रोकता है। यदि ज्ञानचारित्रके साथ सम्यग्दर्शन हो तो वह शीघ्र ही कर्मोंका नाश करता है और मोक्ष सुखको प्राप्त होता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान अज्ञान है और चारित्र मिथ्याचारित्र है। इसलिये सम्यग्दर्शनको धारणकर ज्ञानी तथा चरित्रवान वनो।

एक सम्यग्दर्शनसे ही सर्वसिद्धि नहीं होगी, किंतु सम्यग्दर्शनके साथ२ ज्ञान चारित्र हो तो ही सर्वसिद्धि होती है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनको ही उत्तम मानकर ज्ञानचारित्रकी उपेक्षा करता है। वह अपनेको ठगता है। इसी प्रकार ज्ञानको ही सर्वस्व मानकर ज्ञानसे सिद्धि चाहता है वह भी सदाचारके विना पतित होकर सिद्धिसे दूर हो जाता है। चारित्रसे भी सिद्धि नहीं होती है किन्तु तीनोंसे ही सिद्धि होती है।

एक सम्यग्दर्शनसे सिद्धि क्यों नहीं होती है? ऐसे प्रश्नको धारण करनेवालोंको विचार करना चाहिये कि एक सम्यग्दर्शन ही मोक्षका कारण माना जाय तो सव जो जीव अपनेको तत्वोंके श्रद्धानी अथवा सच्चे देव शास्त्र और गुरुके श्रद्धानी मानते हैं वे ज्ञान और चारित्रकी उपेक्षा कर देवे तो मोक्षकी प्राप्ति सवको सरल है। एक मनुष्य अपनी कोठी भरी हुए धान्यका ऐसा विश्वास करलेवे कि " कोठीमें भरा हुआ धान्य ऊगकर पक जायगा " तो ऐसे विश्वाससे कुछ नहीं होता है। ऐसा विश्वास सव कर सक्ते हैं।

एक ज्ञानसे सिद्धि होती है? ऐसे विचार करनेवालोंको जलके ज्ञानसे ही जलकी तृष्णा शांत हो जानी चाहिये। जल पीनेकी आवश्यकता नहीं हैं, परन्तु जलपानके विना तृषा दूर नहीं होती है।

एक चारित्रसे सिद्धिको माननेवाले व्याघ्र, सिंह, रीछ, भालू आदिसे पूरित वनमें रहकर अपने शरीरको कष्ट दें, परन्तु इस प्रकार सिद्धि नहीं है। इसलिये सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र तीनोंकी एकतासे ही मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है।

इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता रूप मोक्षमार्ग है और उससे ही स्वर्ग मोक्षकी सिद्धि होती है।

धर्मका ऐसा स्वरूप जानकर जो भव्य जीव धर्मको धारण करते हैं वे सम्पूर्ण संपत्तिको प्राप्त होकर मोक्षके सुखके भागी हैं। अन्यथा विपदाओंको भोगते हुए संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं।

इस प्रकार जिनागमके अनुसार धर्मका स्वरूप मैंने (गुणभूषणाचार्यने) अपनी स्वल्प बुद्धिसे कहा है। विद्वानोंको चाहिये कि शोधकर सन्मार्ग व्यक्त करें। तथा विस्तारसे जिनको जानना हो वे आगमकी शरण लें। जो भव्य जीव इस चारित्रको धारण करता है वह गुणोंसे भूषित होकर अविचल सुखको प्राप्त होता है।

समस्त संसारमें मूलसंघ अत्यन्त प्रसिद्ध है और महान पुरुषोंसे मान्य है। उस मूलसंघमें परम तेजस्वी समस्त विद्याके पारगामी श्री सागरचन्द्र नामके विद्वान हुए। श्री सागरचंदके आद्य शिष्य मोहरूपी पर्वतको नाश करनेके लिये वज्र समान त्रिलोकमें प्रसिद्धकीर्तिवान और विद्वानोंसे मान्य श्री गुणभूषणस्वामी उत्पन्न हुए जो स्यांद्वादवाणीको जाननेके लिये चूडामणिरत्नके समान देदीप्यमान थे।

श्री गुणभूषण स्वामीने यह " भव्यजनचित्तवल्लभ " नामका श्रावकाचार गृहस्थोंके स्वरूपको सुप्रसिद्ध करनेवाला बनाया। यह पृथ्वीमें चिरकाल आनंदको प्रदान करे।

इस संसारमें अतिशय प्रसिद्ध राजाओंसे मान्य ऐसा पुरपाट नामका एक वंश है जिसमें देवतागण भी अपना जन्म लेनेके लिये आकांक्षा करते रहते हैं। इस वंशमें अत्यन्त प्रसिद्ध और अपने कुलको उद्दीपन करनेवाला ऐसा कामदेव नामका प्रसिद्ध सेठ था जिसकी स्त्रीका नाम देवी था इन दोनोंसे दो पुत्र उत्पन्न हुए। बड़ा पुत्र जोमन था और दूसरा लक्ष्मण था। ये दोनों ही रामचन्द्र और लक्ष्मणके समान गुण संपन्न थे।

रत्नोंकी खानिमें जैसे रत्न शोभित होता है। समुद्रमें चन्द्रमाके समान, विष्णुके पुत्र श्री कृष्णके समान, उत्तम गुणोंसे मान्य ऐसा जोमनके नेमदेव नामका पुत्र हुआ। नेमिदेव बाल्यकालमें ही उत्तम चारित्रको पालन करनेवाला, जैन धर्मके धारण करनेमें प्रवीण, शांत, श्री गुणभूषण आचार्यके चरणोंकी भक्तिमें लवलीन और सम्यग्दर्शन धारण करनेवाला था।

नेमिदेव अपने दानसे कर्ण राजाको जीतनेवाला था, नीतिसे बृहस्पति, पवित्रतासे चन्द्रमा, स्थिरतासे पर्वत, गंभीरतासे समुद्रको जीतनेवाला था और धर्मभावनासे इंद्रको जीतनेवाला था ऐसा गुणभूषणाचार्यका परमभक्त नेमिदेव चिरकाल जीवो, वृद्धिको प्राप्त रहो।

श्री वीर भगवानके चरणकमलकी सेवामें संलीन और हिताहितका विचार करनेमें समर्थ, परमनिपुण, महाबुद्धिशाली, ऐसा नेमदेव

संसारमें गुणोंसे सर्वोपरि था। नेमदेवके हाथ दान करनेमें समुन्नत थे, मस्तक गुणोंसे समुन्नत था और हृदय रत्नत्रयसे समुन्नत था ऐसा नेमिदेव चिरकाल संसारमें जीओ। वृद्धिको प्राप्त रहो।

इति श्रीमद्गुणभूषणाचार्यविरचिते भव्यजनवल्लभाभिधान-
श्रावकाचारे साधु नेमदेव नामांकिते सम्यक्चारित्र
वर्णनं तृतीयोद्देश समाप्तः॥

ग-रत्नेन लिखितं। श्री सं० १९२६ वर्षे चैत्र सुदी ९ शनि दिने। श्री०

इदं पुस्तकं जिहानावादस्य जैसंघपुरा मध्ये साधर्म्मांकां चैत्यालाको छे।

श्रीमद् गुणभूषणस्वामी विरचित–

श्रावकाचार मूल।

प्रणम्य त्रिजगत्कीर्तिं जिनेंद्रं गुणभूषणम्।
संक्षेपेणैव संवक्ष्ये धर्मं सागारगोचरम् ॥ १ ॥
संसारेऽत्र मनुष्यत्वं तत्रापि सुकुलीनता।
यस्मिन् विवेकस्तत्रापि सद्धर्मत्वं सुदुर्लभम् ॥ २ ॥
न हितं विहितं किं तन्नासद्धर्ममना यदि।
नाहितं विहितं किं तन्नासद्धर्ममना यदि ॥ ३ ॥
नरनागसुरेशत्वमथान्यच्च समीहितम्।
धर्मं विना कथं तस्मात् यथा वृष्टिर्विना घनम् ॥ ४ ॥
स्वर्गमोक्षफलो धर्मः स च रत्नत्रयात्मकः।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं रत्नत्रयं मतम् ॥ ५ ॥
स्यादाप्तागमतत्वानां श्रद्धानं यन्मलोज्झितम्।
गुणान्वितं च सम्यक्त्वं तद्धित्रिदशभेदभाक् ॥६॥
आप्तः स्याद्दोषनिर्मुक्तः सर्वज्ञः शास्त्रभेदकः।
क्षुधातृषाजरान्तको रागो मोहश्च विस्मयः ॥ ७ ॥
रुजामृत्युश्च चिन्ता वा स्वेदो निद्रारतिर्जनिः।
विषादोद्विन्मदः षेदो दोषाश्चाष्टादशस्मृताः ॥ ८ ॥
सर्वज्ञत्वं विना नैषोऽतीन्द्रियार्थोपदेशकः।
विना सच्छात्रदेशित्वान्नाप्तत्वमपि संभवात् ॥ ९ ॥
आप्तोदितं प्रमाभूतमागमः स निगद्यते।

द्वेषात्सरागवक्तृत्वाभावात्तस्य प्रमाणता ॥ १० ॥
जीवाजीवाश्रवो बन्धसंवरौ निर्जरा तथा ।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्वानिस्युर्जिनागमे ॥ ११ ॥
चेतना लक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता तनुप्रमः ।
अनादिनिधनोऽमूर्तः स च सिद्ध प्रमाणतः ॥१२॥
मूर्तामूर्तभिधाद्वेधा जीवोऽमूर्तोऽत्रपुद्गलः ।
स्कन्धदेशप्रदेशाविभागिभेदाचतुर्विधः ॥ १३ ॥
धर्माधर्मनभः कालस्त्वमूर्ता शाश्वता क्रियाः ।
यानस्थानावकाशार्थवर्तनागुणलक्षणाः ॥ १४ ॥
मुख्यो गौणश्च कालोऽत्र स्यान्मुख्योणुस्वभावकः ।
मुख्यहेतुरतीतादिरूपो गौणः स उच्यते ॥ १५ ॥
मिथ्यात्वादिचतुष्टेन जिनपूजादिना च यत् ।
कर्माऽशुभ शुभं जीवमास्पन्देश्यात्स आश्रवः ॥१६॥
स्यादन्योन्यप्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः ।
स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावादिस्वभावकः ॥१७॥
सम्यक्त्वं व्रतकोपादि निग्रहाद्योगरोधतः ।
कर्माश्रवनिरोधो यः सत्संवरः स उच्यते ॥१८॥
सविपाकाविपाकाथ निर्जरा स्याद्द्विधादिमा ।
संसारे सर्व जीवानां द्वितीया सुतपस्विनाम् ॥१९॥
निर्जरा संवराभ्यां यो विश्वकर्मक्षयो भवेत् ।
स मोक्ष इह विज्ञेयो भव्यैर्ज्ञानसुखात्मकः ॥ २० ॥
प्रमाणनयनिक्षेपैरर्थव्यंजनपर्ययैः ।
परिणामीति तत्वानि श्रद्धेयान्यवबुध्य च ॥२१॥

अष्टौ मदास्त्रयो मूढास्तथानायतानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चैते दोषाः सम्यक्त्वदूषकाः ॥ २२ ॥
कुले जातितपोज्ञार्थावीर्यैश्वर्यवपुर्मदाः ।
अष्टौ ते दूषका दृष्टेस्तस्मात्त्याज्या प्रयत्नतः ॥ २३ ॥
धर्मबुद्ध्या गिरेरग्नौ भृङ्गौ पातश्च भेदनम् ।
कुन्ताद्यैर्निजदेहस्य मज्जनं सागरादिषु ॥ २४ ॥
देहलीगेहवापर्चा संक्रान्तिग्रहणादिषु ।
दानमित्यादिलोकानां जनमूढमनेकधा ॥ २५ ॥
वरमंत्रौषधाप्त्यर्थं लुब्धपाखण्डिसेवनम् ।
देवे पाखण्डिमूढा चात्येते स्युर्दृष्टिदूषकाः ॥ २६ ॥
कुदेवागमचारित्र तदाधारेपूपासना ।
षडनायतनानि स्युर्दृष्टिदूषीण्यतस्त्यजेत् ॥ २७ ॥
शङ्काकांक्षाजुगुप्सा च मूढतानुपगूहनम् ।
अस्थिरीकरणं चैवावात्सल्यं चाप्रभावना ॥ २८ ॥
अष्टौ दोषा भवन्त्येते सम्यक्त्वक्षितिकारणम् ।
विपरीता गुणास्त्वेते दृगविशुद्धिविधायिनः ॥ २९ ॥
अर्हं देवो भवेन्नो वा तत्वमेतत्किमन्यथा ।
व्रतमेतत्किमन्यद्वेत्येषा शंका प्रकाशिता ॥ ३० ॥
निर्दोषोर्हन्नेव देवस्तत्वं तत्प्रतिपादितम् ।
व्रतं तदुक्तमेवेति निःशंकाऽञ्जनवद्भवेत् ॥ ३१ ॥
सम्यक्त्वस्य व्रतस्यापि माहात्म्यं यदि विद्यते ।
देवो यक्षोऽमरः स्वामी मे स्यादाकांक्षणा त्यजेत् ॥३२॥
एकैवेयं यतो दृष्टिर्निष्कांक्षेष्टफलप्रदा ।

भजे निःकांक्षिता तस्माद्यथाऽनंतमती श्रुता ॥ ३३ ॥
दृष्ट्वातिम्लानबीभत्सं रोगव्रातं वपुः सताम् ।
यत्तन्वादिविनिंदा स्यात्सा जुगुप्सेति कथ्यते ॥ ३४ ॥
जरारोगादिकुष्टानां सतां भक्त्या स्वशक्तितः ।
वैयावृत्यं निर्जुगुप्सा तामौदायनवद्धरेत् ॥ ३५ ॥
मिथ्यावर्त्मनि तन्निष्टे शंशासंपर्कसंस्तवा ।
मौढानि निर्मूढतां ज्ञातस्तां भजेद्रेवती यथा ॥३६॥
सम्यग्ज्ञातमार्गत्वादशक्तत्वाच्च यान्यथा ।
प्रवृत्तिस्तदनाच्छादौ नुपगूहनमुच्यते ॥ ३७ ॥
मार्गविप्लवरक्षार्थं दैवयोगसमागतान् ।
जिनेन्द्रभक्तवन्नित्यं दोषानप्युपगूहते ॥ ३८ ॥
चारित्राद्दर्शनाच्चैव परीषहभयादितः ।
उपेक्षा चलतां प्रोक्तः सः स्थिरीकरणं बुधैः ॥३९॥
तद्धर्म संघवृद्ध्यर्थं स्थापनं चलतां पुनः ।
तस्मिन् तत् स्थिरीकरणं प्रकुर्याद्वारिषेणवत् ॥४०॥
तपो गुणादिवृद्धानामवज्ञा या सधर्मिणाम् ।
अवात्सल्यं हि तत् प्रोक्तं सम्यक्त्वक्षितिकारणम् ॥४१॥
निःकैतवापचाराय प्रतिपत्तिः सधर्मिषु ।
तद्वात्सल्यं यथायोग्यं कुर्याद्विष्णुकुमारवत् ॥ ४२ ॥
सामर्थ्यत्वेऽपि यन्नैव कुर्याच्छासनभासनम् ।
तदप्रभावनं प्रोक्तं सद्दृष्टिमलिनाकरम् ॥ ४३ ॥
तत्पूजादानविद्याद्यैस्तपोभिर्विविधात्मकैः ।
मार्गप्रभावनां शश्वत् कुर्याद्वज्रकुमारवत् ॥ ४४ ॥

तद्द्वेधा स्यात्सरागश्च वीतरागस्त्वगोचरम् ।
प्रशमादिगुणं त्वाद्यं परं स्यादात्मशुद्धिभाक् ॥ ४५ ॥
शमः संवेगनिर्वेगौ निन्दागर्हणभक्तयः ।
आस्तिक्यमनुकंपेति गुणा दृष्टयनुमापकाः ॥ ४६ ॥
धर्माद्यतीन्द्रियं यद्वन्मीयतेऽस्मिन् सुखादितः ।
तद्वत्सम्यक्त्वरत्नं हि मीयते प्रशमादितः ॥ ४७ ॥
यद्रागादिदोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम् ।
शमः समुच्यते तज्ज्ञैः समस्तव्रतभूषणम् ॥ ४८ ॥
धर्मे धर्मफले रागः संवेगः सः समुच्यते ।
निर्वेगो देहसंसारभोगो निर्विन्नता मता ॥ ४९ ॥
मनसा वपुषा वाचा सति दोषे विनिन्दनम् ।
आत्मसाक्षि भवेन्निंदा गर्हा गुर्वादिसाक्षिकी ॥ ५० ॥
अर्हच्छ्रुततपोभृत्सु वन्दनास्तवनार्चने ।
स्यादादरोनुरागो यः सा भक्तिरिति कीर्त्यते ॥ ५१ ॥
तत्वाप्तव्रतमार्गेषु चित्तमस्तित्वसंयुतम् ।
यत्तदास्तिक्यमित्युक्तं सम्यक्त्वस्य विभूषणम् ॥ ५२ ॥
सर्वजन्तुषु चित्तस्य कृपार्द्रत्वं कृपालवः ।
सद्धर्मस्य परं वीजमनुकंपां वदंति ताम् ॥ ५३ ॥
चारित्रं देहजं ज्ञानमक्षजं मोहजारुचिः ॥
मुक्तात्मनियतो नास्ति तस्मादात्मैव तत्त्रयम् ॥ ५४ ॥
तीव्रक्रोधाद्रिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वकर्मणाम् ।
सप्तानां क्षयता शान्ते क्षयोपशमितापि च ॥ ५५ ॥
क्षायिकं चौपशमिकं क्षायोपशमिकं तथा ।

सम्यक्त्वं त्रिविधं प्रोक्तं तत्वनिश्चलतात्मकम् ॥ ५६ ॥
आज्ञामार्गोपदेशो तु सूत्रबीजसमासजम् ।
विस्तारोऽर्थोद्भवं वाच परमावादिगाढके ॥ ५७ ॥
सर्वज्ञोपज्ञमार्गस्यानुज्ञा साज्ञा समुच्यते ।
रत्नत्रयविचारस्य मार्गो मार्गस्तु कीर्त्यते ॥ ५८ ॥
पुराणपुरुषाख्यान श्रुत्यादेशो निगद्यते ।
उपदेशो यत्याचारवर्णनं सूत्रमुच्यते ॥ ५९ ॥
सर्वागमफलावाप्ति सूचनं बीजमुच्यते ।
सः समासो यः संक्षेपालापस्तत्वाप्तवर्णनम् ॥ ६० ॥
विस्तारोऽङ्गादिविस्तीर्णश्रुतस्यार्थसमर्थता ।
स्वप्रत्ययः समर्थः स्यादर्थस्त्वागमगोचरे ॥ ६१ ॥
अङ्गपूर्वप्रकीर्णात्मश्रुतस्यैकतमे स्थले ।
निःशेषार्थावबोधार्थं भवेत्तदवगाढकम् ॥ ६२ ॥
सर्वज्ञानावधिज्ञानमनःपर्ययसंनिधौ ।
यदात्मप्रत्ययोत्थं तत् परमाद्यवगाढकम् ॥ ६३ ॥
तदुत्पत्तिर्निसर्गेणाधिगमेन च जायते ।
अल्पात्प्रयासतत्वाद्या द्वितीया बहुतस्ततः ॥६४॥
प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं महत्वाद्यवलोकने ।
बाह्योपदेशकार्याद्वा ज्ञानं यत्त निसर्गजम् ॥६५॥
प्रमाणनयनिक्षेपैस्तत्वं निश्चित्य ह्यात्मनः ।
संदेहादीनपाकृत्य रुचिः साधिगमोद्भवान् ॥६६॥
दोषा गुणा गुणादोषा वैपरीत्ये भवन्त्यमी ।
भवान्तरे स्वभावोऽयमभावो यद्यवस्थितः ॥६७॥

त्रयस्त्रिंशद्गुणैर्युक्तं दोषैस्तावद्भिरुज्झितम् ।
यः पालयति सत्यत्त्वं स याति त्रिजच्छ्रियम् ॥६८॥
एक मेव हि सम्यत्त्वं यस्य जातं गुणोज्वलम् ।
पट्पाताल त्रिधादेवस्त्रिपूत्पत्तिं विलुंपति ॥ ६९ ॥
तमवनिपति संपत्सेवते नाकलक्ष्मी-
र्भवति गुणसमृद्धिस्तं वृणीते च सिद्धिः ।
स भवजलधिपारं प्राप्तवान्कर्मदूरं-
त्रिजगदमितदृष्टिर्निर्मला यस्य दृष्टिः ॥७०॥
दृष्टिनिष्टः कनिष्टोऽपि वरिष्टो गुणभूषणः ।
दृष्ट्यनिष्टो वरिष्टोऽपि कनिष्टो गुणभूषणः ॥७१॥

इति श्रीमद् गुणभुषणाचार्यविरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभि-
धान श्रावकाचारे साधु नेमिदेव नामांकिते
सम्यत्त्ववर्णनं प्रथमोद्देशः ।

द्वितीयोद्देशः ।

(सम्यग्ज्ञानवर्णनम्)

यत्संदेहविपर्यासव्यवसायसमुज्झितम् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मा सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥७२॥
परोक्षाध्यक्षभेदेन तद्द्वेधा स्याद्द्विधा पुनः ।
मतिश्रुतादिभेदेन परोक्षज्ञानमुच्यते ॥ ७३ ॥
इन्द्रियानिन्द्रियोद्भूतं मतिज्ञानं तु षड्विधम् ।
अवग्रहादिभिन्नं तु तच्चतुर्विंशतिप्रमम् ॥ ७४
तदष्टाशीतिद्विशतीभेदं बह्वादिमद् गुणात् ।
षडत्रिंशत्रिशतीभेदं व्यञ्जनावग्रहैर्युतम् ॥ ७५ ॥
मतिपूर्वं श्रुतं ज्ञेयं सर्वभावस्वभावकम् ।
केवलज्ञानवच्चास्माद्भेदौ साक्षात्प्रकाशनात् ॥ ७६ ॥
विस्तारेणाङ्गपूर्वादिभेदं तच्च प्रकीर्त्यते ।
संक्षेपात्तु चतुर्भेदं तदेवात्र निरूप्यते ॥ ७७ ॥
तीर्थचक्रार्द्धचक्रेशवलादेर्यत् कथानकम् ।
प्रथमः सोनुयोगः स्यात्तत्परीक्षात्मकश्च सः ॥ ७८ ॥
यतीनां श्रावकानां च यत्र धर्मो निरुप्यते ।
चरणानुयोगः सः स्यात् तद्विचारस्वभावकः ॥ ७९ ॥
अधोमध्योर्ध्वलोकानां संख्या नामादिवर्णनम् ।
क्रियते यत्र स ज्ञेयो योगः स करणात्मकः ॥ ८० ॥
विशुद्धशुद्धजीवादिषट्द्रव्याणां निरूपणम् ।
यस्मिन् वीन्वियते द्रव्यानुयोगः सः प्रकीर्तितः ॥ ८१ ॥

प्रत्यक्षं त्ववधिज्ञानमनःपर्ययकेवलात् ।
द्विधा स्यादवधिज्ञानं द्वेधा गुणभवोत्थितम् ॥ ८२ ॥
गुणोत्थमवधिज्ञानं नरतिर्यक्षु जायते ।
भवमत्युद्गतं देव नारकेषु जिनेष्वपि ॥ ८३ ॥
गुणोत्थं देशसर्वपरमावधितः त्रिधा ।
षोढा देशावधिस्तत्र वर्द्धमानादिभेदतः ॥ ८४ ॥
वर्द्धमानो हीयमानोऽनवस्थः स्यादवस्थितः ।
अनुगाम्यननुगामी षोढा देशावधिर्मतः ॥ ८५ ॥
शुक्लचन्द्रवदुत्पादानवरं समयं प्रति ।
वृद्ध्या क्षेत्रमुखैरिष्टं मन्येतद्वर्द्धमानकम् ॥ ८६ ॥
चन्द्रवत्कृष्णपक्षे स्यात् वृद्धयवस्थानवर्जितम् ।
ज्ञानं संक्षीयते सर्वं नाशं तद्धीयमानकम् ॥ ८७ ॥
यत्सूर्यबिम्बवज्ज्ञानं वृद्धिहानिसमुज्झितम् ।
आकेवलमवस्थाय तिष्ठेत्तदवस्थितम् ॥ ८८ ॥
उत्पन्नं यत्कदाचित्तु हीयते वर्द्धतेऽपि च ।
अवतिष्ठते कदाचिच्च तद्भवेदनवस्थितम् ॥ ८९ ॥
अनुगामि यदुत्पन्नं जीवेन सह गच्छति ।
तत्त्रेधा स्यात् क्षेत्रजन्मक्षेत्रजन्मानुगामिनः ॥ ९० ॥
क्षेत्रानुगामि यज्ज्ञातं याति क्षेत्रान्तरं समम् ।
भवानुगामि यज्ज्ञातं जीवेनान्यभवे व्रजेत् ॥ ९१ ॥
क्षेत्रजन्मानुगाम्युक्तं यज्जीवेन समं व्रजेत् ।
नृदेवादिभवं क्षेत्रं भरतैरावतादिकम् ॥ ९२ ॥
त्रेधाननुगामी जन्मक्षेत्रभावानुगामिनः ।

क्षेत्राननुगामी क्षेत्रं नैति याति भवान्तरम् ॥ ९३ ॥
देशावधिर्जघन्येन नोकर्मौदारसंचयम् ।
मध्ययोगार्जिलोकस्य विभक्तमधिगच्छति ॥ ९४ ॥
कर्मणां वर्गणामेकध्रुवहार विवर्जितम् ।
वरो देशावधिर्वेत्ति मध्यमो वेत्त्यनेकधा ॥ ९५ ॥
वरदेशावधिर्ज्ञेयं ध्रुवहारविभागितम् ।
परोवधिर्जघन्येन वेत्ति मध्यस्त्वनेकधा ॥ ९६ ॥
वरः परावधिर्वेत्ति स्वावगाहविभागितम् ।
तैजसे त्ववशिष्टं यत् ध्रुवहारप्रमाणिकम् ॥ ९७ ॥
सर्वावधिर्निर्विकल्प परमाणु निबोधति
परः सर्वावधिस्त्वन्त्यशरीरे विरते भवेत् ॥ ९८ ॥
चिन्तिताचिन्तितं वार्द्धचिन्तितं सर्वभावगम् ।
नृलोक एव यद्वेत्ति तन्मनःपर्ययं स्मृतम् ॥ ९९ ॥
विपुलार्जुविबुद्धिभ्यां तद्द्वेधाद्यं तु षड्विधम् ।
वक्रेतरमनः काय वागतार्थ निबोधनात् ॥ १०० ॥
द्वेधास्यादृजुर्वाक्कायचित्तस्वार्थप्रवेदनात् ।
द्वितीयं तच्च संपाति पूर्वं त्वप्रतिपातकम् ॥ १०१ ॥
त्रिकालगोचरं मूर्त्तं समीपस्थेन चिन्तितम् ।
ऋजुबुद्धिर्वेत्ति पूर्वं चिन्तिताचिन्तितं च तम् ॥१०२॥
करणक्रमनिर्मुक्तं लोकालोकप्रकाशकम् ।
सर्वावरणनाशोत्थं केवलज्ञानमुत्तमम् ॥ १०३ ॥
उपचारोऽस्ति तं रूपं तत्वं सज्ञानतोऽखिलम् ।
सम्यक् निश्चित्य सम्यक्त्वं विश्वासात्सोपजायते ॥१०४॥

सम्यग्ज्ञानं विना नैव तत्वनिश्चयसंभवः ।
कर्मोछित्तिर्न तं मुक्ता न मोक्षास्तिश्च तां विना? ॥१०५॥
विनोद्योतं यथा न स्यात्पुमान् सद्गतिभाजनम् ।
विना ज्ञानं तथा न स्यात् पुमान् सद्गतिभाजनम् ॥१०६॥
न तस्य तत्वाप्तिरिहास्ति दूरे न कर्मनाशोऽप्यधुना समर्थः ।
न मोक्षलक्ष्मीरनवाप्यभावो स्यादभ्रसंविद्गुणभूषणो यः॥१०७
बुद्धिनिष्टः कनिष्टोपि वरिष्टो गुणभूषणः ।
बुद्ध्यनिष्ट वरिष्टोपि कनिष्टो गुणभूषणः ॥१०८॥

इति श्रीमद्गुणभूषणाचार्यविरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधान-
श्रावकाचारे साधु नेमदेव नामांकिते सम्यग्ज्ञान-
वर्णनं द्वितीयोद्देशः ॥

तृतीयोद्देशः ।

(सम्यक्चारित्र वर्णनम्)

शुभप्रवृत्तिरूपा या निवृत्तिरशुभाद्भवेत् ।
तच्चारित्रं द्विधा प्रोक्तं सागारं विरताश्रितम् ॥ १०९ ॥

दार्शनिकश्च व्रतिकः सामायिकी प्रोषधोपवासी च ।
तस्मात्सचित्तविरतो दिवा सदा ब्रह्मचारी च ॥ ११० ॥

स्यादारंभाद्विरतः परिग्रहादनुमतात्तथोद्दिष्टात् ।
इत्येकादशभेदाः सागारा देशयत्याख्याः ॥ १११ ॥

उदंवराणि पंचैव सप्तव्यसनान्यपि ।
वर्जयेद्यः सः सागारो भवेद्दार्शनिकाह्वयः ॥ ११२ ॥

प्रत्यक्षविषयैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्चागमगोचरैः ।
सर्वैराकीर्णमध्यानि कृपालुस्तानि वर्जयेत् ॥ ११३ ॥

द्यूतमद्यामिषं वेश्याखेटचौर्यपराङ्गना ।
सप्तैव तानि पापानि व्यसनानि त्यजेत्सुधीः ॥ ११४ ॥

असत्यस्य निधानं यत्कृत्याकृत्यविवर्जितम् ।
दुर्गतेर्वर्त्म तत्त्याज्यं द्यूतं क्रोधादिवर्द्धनम् ॥ ११४ ॥

यदुत्पद्य मृता प्राणि देहजोन्मादशक्तिकम् ।
सर्वावद्यपुरश्चार्यं निन्द्यं मद्यं भजेत्कः ॥ ११६ ॥

जातं यन्मक्षिकागर्भे संभूताण्डकपीडनात् ।
तत्कथं कलिलप्रायं सेव्यं दुर्गतिदं मधु ॥ ११७ ॥

प्राणिदेहविघातोत्थमनेककृमिसंकुलम् ।
पूतिगंधं च वीभत्सं त्याज्यं मांसं कृपालुना ॥ ११८ ॥

मद्यमांससमायुक्ताः कुर्करापात्रसन्निभाः ।
गजनावस्करसादृश्या वेश्याद्वारं च दुर्गते ॥ ११९ ॥
भयकंपसमाक्रान्तं प्राणिवर्गनिरागसम् ।
विलोक्य कोऽनुकंपावान् खेटं दुर्गतिदं भजेत् ॥ १२० ॥
यद्दत्तेऽत्र सदा भीतिं हस्ताद्यवयवच्छिदम् ।
दुःखं परत्र दुर्वार्यं तच्चौर्यं मतिमान् त्यजेत् ॥ १२१ ॥
परस्त्रीसंगमेरस्या सौभाग्यं किमिवोच्यते ।
सत्यो यस्यां भवत्येव पुमान् दुर्गतिवल्लभः ॥ १२२ ॥
पण्डोः सुता यदोः पुत्राः वकाख्यश्चारुदत्तकः ।
ब्रह्मदत्तः शिवभूतिर्दशास्य प्रमुखा नराः ॥ ८२३ ॥
एते प्राप्ताः महादुःखं एकैकव्यसनादतः ।
सेवते यस्त्वशेषाणि सः स्याद्दुःखैकभाजनम् ॥ १२४ ॥
विशोध्याऽद्यात्फलंसिंचिद्विदलमुंम्बरव्रतम् ।
त्यजेत्स्नेहाम्बु चर्मस्थं व्यायन्नान्नं फलव्रती ॥ १२५ ॥
काञ्जिकं पुष्फितं तक्रं दधिस्त्रिद्व्योपिताम् ।
संधानकं नवनीतं त्यजेन्नित्यं मधुव्रती ॥ १२६ ॥
रात्रिभुक्ति परित्यागो गालिताम्बु निसेवनम् ।
कार्यं मांसाशनत्याग कारिणा न स चान्यथा ॥ १२७ ॥
दिनान्ते य द्विपन्नास्ते कुन्थ्वादि प्राणिनां गणाः ।
भोज्यं भूतादि भुंक्ते च नक्तं भुक्तिं ततस्त्यजेत् ॥ १२८ ॥
संमूर्च्छति मुहूर्त्तेन गालितं च जलं यतः ।
तत्सर्वत्र श्रुतेनैव नाम्बुपानादिकं त्यजेत् ॥ १२९ ॥
पंचधाणुव्रतं यस्य त्रिविधं च गुणव्रतम् ।

शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यात्सः भवेद् व्रतिको यतिः ॥ १३० ॥
अहिंसासत्यमस्तेयस्थूलब्रह्माऽपरिग्रहैः ।
पञ्चधाणुव्रतं यस्य स्वःश्रियस्तस्य दायकम् ॥ १३१ ॥
यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिप्राणापरोपणम् ।
सा हिंसा दुर्गतेद्वारमतस्त्याज्या प्रयत्नतः ॥ १३२ ॥
रक्षणं यत्प्रयत्नेन त्रसाणां स्थावरे पुनः ।
कार्यकारणतावृत्तिरहिंसा सा गृहाश्रमे ॥ १३३ ॥
क्रोधादिनापि नो वाच्यं वचोऽसत्यं मनीषिणाम् ।
सत्यं तदपि नो वाच्यं यत्स्यात् प्राणिविघातकम् ॥१३४॥
ग्रामे चतुःपथादौ वा विस्मृतं पतितं धृतम् ।
परद्रव्यं हिरण्यादि वर्ज्यं स्तेयविवर्जिना ॥ १३५ ॥
स्त्रीसेवारंगरमणं यः पर्वणि परित्यजेत् ।
सः स्थूलब्रह्मचारी च प्रोक्तं प्रवचने जिनैः ॥ १३६ ॥
धनधान्यहिरण्यादिप्रमाणं यद्विधीयते ।
ततोधिके वपातेस्मिन् निवृत्तिः सोऽपरिग्रहः ॥ १३७ ॥
असृग्मांससुरासार्द्रचर्मस्था विलोकने ।
प्रत्याख्यानबहुप्राणि सन्मिश्रान्ननिषेवने ॥ १३८ ॥
त्यजेद्भोज्ये तदेवाऽन्यभुक्तिं चैवविवर्जयेत् ।
अतिप्रसङ्गहान्यर्थं तपोवृद्ध्यर्थमेव च ॥ १३९ ॥
दिशादेशानर्थदण्डविरतिः स्याद् गुणव्रतम् ।
सा दिशाविरतिर्या स्याद्दिशानुगमन प्रमा ॥ १४० ॥
यत्र व्रतस्य भंगः स्याद्देशे तत्र प्रयत्नतः ।

---

१ ततोऽधिकेवपाऽस्मिन्=ततोधिकेवपाता स्मिन् ।

गमनस्य निर्वृत्तिर्या सा देशविरतिर्मता ॥ १४१ ॥
कूटमान तुलापास विपशस्त्रादिकस्य च ।
क्रूरप्राणिभृतां त्यागस्तृतीय गुणव्रतम् ॥ १४२ ॥
भोगस्य चोपभोगस्य संख्यानं पात्र सत्क्रिया ।
सल्लेपणेति शिक्षाख्यं व्रतमुक्तं चतुर्विधम् ॥ १४३ ॥
यः सकृद्भुज्यते भोगस्तांबूलकुसुमादिकम् ।
तस्य या क्रियते संख्या भोग संख्यानमुच्यते ॥ १४४ ॥
उपभोगो मुहुर्भोग्यो वस्त्रस्याभरणादिकः ।
या यथाशक्तितः संख्या सोपभोगप्रमोच्यते ॥१४५॥
स्वस्य पुण्यार्थमन्यस्य रत्नत्रयसमृद्धये ।
यद्दीयतेऽत्र तद्दानं तत्र पञ्चाधिकारकम् ॥ १४६ ॥
पात्रं दातादानविधिर्देयं दानफलं तथा ।
अधिकारा भवन्त्येते दाने पञ्च यथाक्रमम् ॥१४७॥
पात्रं त्रिधोत्तमं चैतन्मध्यमं च जघन्यकम् ।
सर्वसंयमसंयुक्तः साधुः स्यात् पात्रमुत्तमम् ॥ १४८ ॥
एकादशप्रकारोऽसौ गृही पात्रमनुत्तमम् ।
विरत्या रहितं सम्यग्दृष्टिपात्रं जघन्यकम् ॥ १४९ ॥
तपः शीलव्रतैर्युक्तः कुदृष्टिः स्यात्कुपात्रकम् ।
अपात्रं व्रत सम्यक्त्व तपः शीलविवर्जितम् ॥१५०॥
श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं तुष्टिः शक्तिरलुब्धता ।
क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते ॥ १५१ ॥
स्थापनोच्चासनपाद्यपूजाप्रणमनैस्तथा ।
मनो वाक्काय शुद्ध्या वा शुद्धो दानविधिः स्मृतः ॥१५२॥

आहाराभयभैषज्यशास्त्रैर्देयं चतुर्विधम् ।
खाद्यपेयाशनस्वाद्यैराहारः स्याच्चतुर्विधः ॥ १५३ ॥
आहाराद्भोगवान् वीरोऽभयदानाच्च भेषजात् ।
नीरोगी शास्त्रदानाच्च भवेत्केवलबोधवान् ॥ १५४ ॥
यथोप्तमुत्तमे क्षेत्रे फलेद्वीजमनेकधा ।
तथा सत्पात्र निक्षिप्तं फलेद्दानमनेकधा ॥ १५५ ॥
यथोप्तमूषरे क्षेत्रे फलेद्बीजं न किञ्चन ।
कुपात्राऽपात्रनिक्षिप्तं तद्वद्दानं न किञ्चन ॥ १५६ ॥
कारुण्यादथवौचित्यादन्येभ्यो पि स्वशक्तितः ।
वृद्धदीनादिकष्टेभ्यो दानं देयं कृपालुना ॥ १५७ ॥
रोगोपसर्गे दुर्भिक्षो वार्द्धक्ये वाऽप्रतिक्रिये ।
धर्मार्थं यस्तनोस्त्यागः सोक्ता सल्लेषणा बुधैः ॥ १५८ ॥
त्यक्त्वा परिग्रहं स्नेहं वैरं सङ्गं प्रयत्नतः ।
वात्सल्यैर्वचनैः क्षान्त्वा क्षमयेत्स्वपरं जनम् ॥ १५९ ॥
दोषानालोच्य निर्व्याजं मनोवाक्कायसंचितान् ।
सोत्साहश्च श्रुतश्रुत्या भावयोच्चास मञ्जसा ॥ १६० ॥
आहारं स्निग्धपानं च खरपानं यथाक्रमम् ।
त्यक्त्वोपवासमाश्रित्य ध्यायन्नर्हं त्यजेत्तनुम् ॥ १६१ ॥
व्रतानि द्वादशैतानि व्यतीचाराणि पालयन् ।
भवेत्स्वर्मोक्षलक्ष्मीनामेकान्तेनसमाश्रयः ॥ १६२ ॥
देवदेवोपदेशः स्यात् समयोऽत्रसमुद्भवम् ।
नियुक्तं क्वापि यत्कर्म तत्सामायिकमुच्यंते ॥ १६३ ॥

---

१ यथोप्त (उत्पन्न हुआ)

वैयग्र्यं त्रिविधं त्यक्त्वा त्यक्तारम्भपरिग्रहम् ।
स्नानादिना विशुद्धाङ्गशुद्ध्या सामायिकं भजेत् ॥ १६४ ॥
गेहे जिनालयेऽन्यत्र प्रदेशेवाऽनघेशुचौ ।
उपविष्टः स्थितो वापि योग्यकालसमाश्रितम् ॥ १६९ ॥
द्विनतिः द्वादशावर्त्तो चतुः शीर्षनताऽन्वितः ।
भक्तिद्वयं चतुष्कं वा समुच्चार्य निराकुलः ॥ १६६ ॥
कायोत्सर्गं स्थितो भूत्वा ध्यायेत्पञ्चपदीं हृदि ।
गुरून् पञ्चाथवा सिद्धस्वरूपं चिन्तयेत्सुधीः ॥ १६७ ॥
सामायिकं भवन्नेवं नित्यं सामायिकोऽञ्जसा ।
नरोरगसुराधीशैर्भवेद्वन्द्यः पदद्वयम् ॥ १६८ ॥
मासे चत्वारिपर्वाणि प्रोषधाख्यानि तानि च ।
यत्तत्रोपोषणं प्रोषधोपवासस्तदुच्यते ॥ १६९ ॥
उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्यश्चेति स त्रिधा ।
यथाशक्तिविधातव्यो कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥ १७० ॥
सप्तम्यां च त्रयोदश्यां जिनार्चां पात्रसत्क्रियां ।
विधाय विधिवच्चैक भक्तं शुद्धवपुस्ततः ॥ १७१ ॥
गुर्वादिसन्निधिं गत्वा चतुराहारवर्जनम् ।
स्वीकृत्य निखिलां रात्रिं नयेत्सत्कथानकैः ॥ १७२ ॥
प्रातः पुनः शुचिर्भूत्वा (निर्माप्य प्रतिमासनं) निर्माप्यार्हत् पूजनं
सोत्साहस्तदहोरात्रं सद्ध्यानाध्ययनैर्नयेत् ॥ १७३ ॥
तत् पारणाह्नि निर्माप्य जिनार्चां पात्रसत्क्रियां ।

---

१ यहांपर मूल प्रतिमें अक्षर उड़ गये हैं। उसमेंसे नि,,,,,,पूजनं अक्षर प्रकट मालूम होते हैं।

स्वयं वा चैकभक्तं यः कुर्यात्तस्योत्तमो हि सः ॥ १७४ ॥
मध्यमोपि भवेदेवं स त्रिधाहारवर्जनम् ।
जलं मुक्त्वा जघन्यस्त्वेकभक्तादिरनेकधा ॥ १७५ ॥
स्नानमुद्वर्तनं गन्धं माल्यं चैव विलेपनम् ।
यच्चान्यद्रागहेतुः स्याद्वर्ज्यं तत्प्रोषधोखिलम् ॥ १७६ ॥
प्रोषधाद्युपवासं यः कुर्वीत विधिना पुनः ।
स भवोत्परमस्थानं पञ्चकल्याणसम्पदाम् ॥ १७७ ॥
मूलं फलं च शाकादि पुष्पं बीजं करीरकम् ।
अप्रासुकं त्यजेन्नीरं सचित्तविरतो गृही ॥ १७८ ॥
सति स्त्री ब्रह्मचारी यो दिवास्त्रीसङ्गमं त्यजेत् ।
स सदा ब्रह्मचारी यः स्त्रीसङ्गं नवधा त्यजेत् ॥ १७९ ॥
सः स्यादारम्भविरतो विरमेद्यो खिलादपि ।
पापहेतोः सदारम्भात्सेवाकृष्यादिकात्सदा ॥ १८० ॥
निर्मूर्च्छं वस्त्रमात्रं यः स्वीकृत्य निखिलं त्यजेत् ।
वाह्यं परिग्रहं सः स्याद्विरक्तस्तु परिग्रहात् ॥ १८१ ॥

---

१ सचित्त पत्त फलं छल्लीमूलं हरियं वीयपाणियलवणं सचित्त विरदि तदा होदि सुक्कं पक्कं तत्तं अंविल लवणो हि संमिस्सीयं दव्वं जं जं तेणय छिण्णं तं सव्वं फासुयं होदि। एला लवंग-चंदण कप्पूय वासियं तह सुपंधातिन तंदुल उण्हजलं लेइ मुणी पाणधारणाणिमित्तं। तिहला तमालपत्तं मुच्छय कुंठं च खयर-मादीहिं। एसो पाण विसेसो जह भणियं जिणवरिंदेहिं। उण्हं जलं पिवंतो अयाणमाणो ण होइ परमट्ठो। एयंतेपि य उण्हं जीवविराहउ भणिउ। पाषाणात्पतितं तोयं घटीयंत्रेण ताडितं। सद्यः संततवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते॥

पृष्टोऽपृष्टोऽपिनोदत्तेऽनुमतिं पापहेतुके ।
गेहिकाखिलकार्ये योऽनुमतिविरतोऽस्तु सः ॥ १८२ ॥
गेहाद्विव्याश्रमं त्यक्त्वा गुर्वन्ते व्रतमाश्रितः ।
भैक्षासी यस्तपस्तप्येदुद्दिष्टविरतो हि सः ॥ १८३ ॥
उद्दिष्टविरतो द्वेधास्याद्याद्यो वस्त्रखण्डभाक् ।
संमूर्च्छजानां वपनं कर्त्तनं चैव कारयेत् ॥ १८४ ॥
गच्छेन्नाकारितो भोक्तुं कुर्यात्तद्भिक्षा यथाशनम् ।
पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेद्भुक्तिं निविष्टवान् ॥ १८५ ॥
भुक्त्वा प्रक्षाल्य पात्रं च गत्वा गुरुसन्निधिम् ।
चतुर्धान्नपरित्यागं कृत्वा लोचनमाश्रयेत् ॥ १८६ ॥
द्वितीयोऽपि भवेदेवं स तु कौपीनमात्रवान् ।
कुर्याल्लोचं धरेन्नृपिच्छं पाणिपात्रेऽशनं भजेत् ॥ १८७ ॥
वीर चर्यादिनछाया सिद्धान्ते निह्यसंश्रुतौ ।
त्रैकालिके योवयोगेस्य विद्यते नाधिकारिता ॥ १८८ ॥
पूर्वं पूर्वं व्रतं रक्षुत्तरोत्तरमाश्रयेत् ।
यः एवं स भवेदेव देववंद्यपदद्वयः ॥ १८९ ॥
विनयः स्याद्वैयावृत्यं कायक्लेशस्तथार्चना ।
कर्तव्या देशविरतेर्यथा शक्तियथागमम् ॥ १९० ॥
दर्शनज्ञानचारित्रैस्तपसाऽप्युपचारतः ।
विनयः पञ्चधा सः स्यात्समरत्नगुणभूषणः ॥१९१॥
निःशङ्कित्वादयो पूर्वा ये गुणा वर्णिता मया ।
यत्तेषां पालनं सः स्याद्विनयो दर्शनात्मकः ॥ १९२ ॥
ज्ञाने ज्ञानोपचारे च ....

.... ॥ १९३ ॥

....

.... ॥ १९४ ॥

....तपस्विनाम् ।

यत्स्यादुपासनं सश्वत् तपसो विनयो हि सः ॥ १९९ ॥

मनो वक्कायभेदेन चारित्र...........धा ।

प्रत्यक्षेतरभेदेन सापि स्याद्विविधा पुनः ॥ १९६ ॥

दुर्ध्यानात्समाकृष्य शुभध्यानेन धार्यते ।

मानसं त्वनिशं प्रोक्तो मानसो विनयो हि सः ॥१९७॥

वचो न हितं मितं पूज्यमनुवाचिवचोऽपि च ।

यद्यतीमनुवर्तेत वाचिको विनयोऽस्तु सः ॥ १९८ ॥

गुरुस्तुति क्रियायुक्ता नमनोच्चासनार्पणम् ।

सम्मुखो गमनं चैव तथा वानुव्रजक्रिया ॥ १९९ ॥

अङ्गसंवाहनं योग्य प्रतीकारादि निर्मितिः ।

विधीयते यतीनां यत्कायिको विनयो हि सः ॥ २०० ॥

प्रत्यक्षोप्ययमेतस्य परोक्षस्तु विना पि वा ।

गुरूंस्तदाज्ञयैव स्यात्प्रवृत्ति धर्मकर्मसु ॥ २०१ ॥

शशाङ्कनिर्मलाकीर्तिः सौभाग्यं भाग्यमेव च ।

आदेयवचनत्वं च भवेद्विनयतः सताम् ॥ २०२ ॥

विनयेन समं किंचिन्नास्ति मित्रं जगत्त्रये ।

यस्मात्तेनैव विद्यानां रहस्यमुपलभ्यते ॥ २०३ ॥

[illegible]

[illegible] ॥

विद्वेषिणोऽपि मित्रत्वं प्रयांति विनयायतः ।
तस्मात्त्रेधा विधातव्यो विनयो देशसंयते ॥ २०४ ॥
बाल्यवार्धक्यरोगादिक्लिष्टेसंघे चतुर्विधे ।
वैयावृत्त्यं यथाशक्तिर्विधेयं देशसंयतेः ॥ २०५ ॥
वपुस्तपोवलं शीलं गति बुद्धिसमाधयः ।
निर्भयं नियमादि स्याद्वैयावृत्यकृतार्पणम् ॥ २०६ ॥
वैयावृत्यकृतः किञ्चिद् दुर्लभं न जगत्त्रये ।
विद्या कीर्ति यशो लक्ष्मीः धी सौभाग्यगुणेष्वपि ॥२०७॥
आचाम्लं निर्विकृत्यैकभक्त षष्टाष्टमादिकम् ।
यथाशक्तिश्च क्रियेत कायक्लेशः स उच्यते ॥ २०८ ॥
कायक्लेशाद्भवत्येष जीवः शुद्धतमोऽञ्जसा ।
कालिका किट्टसन्मिश्रं स्वर्णं वा वह्निसङ्गमात् ॥ २०९ ॥
कृत्वा कर्मक्षयं प्राप्य पूजामिन्द्रादिनिर्मितम् ।
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यसुखं मोक्षं प्रयात्यसौ ॥ २१० ॥
गुरूणामपि पञ्चानां या यथाभक्ति शक्तितः ।
क्रियतेऽनेकधा पूजा सोर्चनाविधिरुच्यते ॥ २११ ॥
स नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र कालाच्च भावतः ।
षोढार्चाविधिरुद्दिष्टो विधेयो देशसंयतेः ॥ २१२ ॥
नामोच्चारोर्हतादीनां प्रदेशे परितः शुचौ ।
यः पुष्पाक्षतनिक्षेपा क्रियते नाम पूजनम् ॥ २१३ ॥
सद्भावेतरभेदेन स्थापना द्विविधा मता ।
सद्भावस्थापनाभावे साकारे गुणरोपणम् ॥ २१४ ॥
उपलादौ निराकारे शुचौ संकल्पपूर्वकम् ।

स्थापनं यदसद्भावः स्थापनेति तदुच्यते ॥ २१५ ॥
हुंडावसर्पिणीकाले द्वितीया स्थापना बुधैः ।
न कर्तव्या यतो लोके समूढ संशयो भवेत् ॥ २१६ ॥
निर्मापकेन्द्रप्रतिमा प्रतिष्ठा लक्ष्य तत्फलम् ।
अधिकाराश्च पञ्चैते सद्भावस्थापने स्मृताः ॥ २१७ ॥
लक्ष्यनिर्मापकादीनां प्रतिष्ठा शास्त्रतोऽखिलम् ।
ज्ञातव्यं तत्फलं किंचिद्दत्ताग्रे कथयिष्यति ॥ २१८ ॥
जलगन्धादिकैर्द्रव्यैः पूजनं द्रव्यपूजनम् ।
द्रव्यस्याप्यथवा पूजा सा तु द्रव्यार्चना मता ॥ २१९ ॥
चेतनं वाऽचेतनं वा मिश्रद्रव्यमिति त्रिधा ।
साक्षाज्जिनादयो द्रव्यं चेतनाख्यं तदुच्यते ॥ २२० ॥
तद्वपुर्द्रव्यं शास्त्रं वाऽचित्तं मिश्रं तु तद्द्वयम् ।
तस्य पूजनतो द्रव्यपूजनं च त्रिधा मतम् ॥ २२१ ॥
जन्मनिक्रमणज्ञानोत्पत्तिक्षेत्रे जिनेशिनाम् ।
निषिध्यास्वपि कर्तव्या क्षेत्रे पूजा यथाविधिः ॥ २२२ ॥
कल्याणपञ्चकोत्पत्तिर्यस्मिन्नह्नि जिनेशिनाम् ।
तदह्नि स्थापनापूजावश्यं कार्या सुभक्तितः ॥ २२३ ॥
पर्वण्यष्टाह्निकेऽन्यस्मिन्नपि भक्त्या स्वशक्तितः ।
महामहविधानं यत् तत्कालार्चनमुच्यते ॥ २२४॥
स्मृत्वानन्तगुणोपेतं जिनं संध्यात्रयेऽर्चयेत् ।
वन्दना क्रियते भक्त्या तद्भावार्चनमुच्यते ॥ २२५ ॥
जाप्यः पञ्चपदानां वा स्तवनं वा जिनेशिनः ।

---

१ तेषां जिनादीनां । २ द्रव्यस्य । ३ दिवसे ।

क्रियते यद्यथाशक्तिस्तद्वा भावार्चनं मतम् ॥ २२६ ॥
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
यद्ध्यानं ध्यायते यद्वा भावपूजेति सम्मतम् ॥ २२७ ॥
शुद्धस्फटिक संकासं प्रातिहार्याष्टकान्वितम् ।
यद्द ध्यायतेऽर्हतोरूपं तद्ध्यानं पिण्डसंज्ञकम् ॥ २२८ ॥
अधोभागमधोलोकं मध्यांशं मध्यमं जगत ।
नाभि प्रकल्पयेन्मेरुं स्वर्गाणां स्कन्धमूर्द्धतः ॥ २२९ ॥
ग्रैवेयका स्वग्रीवयां हन्वामनुदिशानपि ।
विजयाद्यान्मुखं पञ्च सिद्धस्थानं ललाटके ॥ २३० ॥
मूर्ध्नि लोकाग्रमित्येवं लोकत्रितय सन्निभम् ।
चिन्तनं यत्स्वदेहस्थं पिण्डस्थं तदपि स्मृतम् ॥ २३१ ॥
एकाक्षरादिकं मंत्रमुच्चार्य परमेष्टिनाम् ।
क्रमस्य चिन्तनं यत्तत्पदस्थध्यानसंज्ञकम् ॥ २३२ ॥
अकार पूर्वकं शून्यं रेफानुस्वारपूर्वकम् ।
पापान्धकारनिर्नाशं ध्यातव्यं तु सितप्रभम् ॥ २३३ ॥
चतुर्दलस्य पद्मस्य कर्णिकायंत्रमन्तरम् ।
पूर्वादिदिक् क्रमान्यस्य पदाद्यक्षरपञ्चकम् ॥ २३४ ॥
तच्चाष्टपत्रपद्मानां तदेवाक्षरपञ्चकम् ।
पूर्ववन्न्यस्य दृग्ज्ञानचारित्रतपसामपि ॥ २३५ ॥
विदिक्ष्वाद्यक्षरं न्यस्य ध्यायेन्मूर्ध्नि गले हृदि ।
नाभौ वक्त्रेऽथवापूर्वं ललाटे मूर्ध्नि वा परम् ॥ २३६ ॥
चत्वारि यानि पद्मानि दक्षिणादिदिशास्वपि ।

---

१ प्रकल्पयेत । २ हकारः ।

विन्यस्य चिन्तयेन्नित्यं पापनाशनहेतवः ॥ २३७ ॥
मध्येऽष्टपत्रपद्मस्य खं द्विरेफं सविन्दुकम् ।
स्वरपंच पदावेष्टयं विनस्याऽस्य दलेषु तु ॥ २३८ ॥
भृत्वा वर्गाष्टकं पत्रं प्रान्ते न्यस्यादिमं पदम् ।
मायावीजेन संवेष्टयं ध्येयमेतत्सुशर्मदम् ॥ २३९ ॥
आकाशस्फटिकाभासः प्रातिहार्याष्टकान्वितः ।
सर्वामरैः सुसंसेव्योऽप्यनन्तगुणलक्षितः ॥ २४० ॥
नभो मार्गेऽथवोक्तेन वर्जितः क्षीरनीरधीः ।
मध्ये शशाङ्कसंकास नीरे जातस्थितो जिनः ॥ २४१ ॥
क्षीराम्भोधिः क्षीरधारा शुभ्राशेषाङ्गसङ्गमः ।
एवं यच्चिन्त्यते तत्स्याद्ध्यानं रूपस्थनामकम् ॥ २४२ ॥
गन्धवर्णरसस्पर्शवर्जितं वोधदृन्मयम् ।
यच्चिन्त्यतेऽर्हद्रूपं तद्ध्यानरूपवर्जितम् ॥ २४३ ॥
इत्येषा षड्विधा पूजा यथाशक्ति स्वभक्तितः ।
यथाविधिर्विधातव्या प्रयतैर्देशसंयतैः ॥ २४४ ॥
कुंस्तुवरखण्डमात्रं यो निर्माप्य जिनालयम् ।
स्थापयेत्प्रतिमां सः स्यात्त्रैलोक्यस्तुतिगोचरः ॥ २४५ ॥
यस्तु निर्मापयेतुङ्गं जिनं चैत्यं मनोहरम् ।
वक्तुं तस्य फलं शक्तः कथं सर्वविदोऽपरम् ॥ २४६ ॥
जिनानां पूजनात्पूज्यः स्तुत्यः स्तोत्राच्च वंदनात् ।
वन्द्यो ध्यानाद्भवेद्योग्यो जगतां त्रितये सुधीः ॥ २४७ ॥
इत्यैकादशसागार सच्चारित्रं यथागमम् ।
यथोक्तं पालयेद्यस्तु सः पायाज्जगतां त्रयम् ॥ २४८ ॥

तपोनिष्टः कनिष्टोऽपि वरिष्ठो गुणभूषणः ।
तपोऽनिष्टः वरिष्टोऽपि कनिष्टो गुणभूषणः ॥ २४९ ॥
ज्ञाने सत्यपि चारित्रं नो जातु यदि जायते ।
निःफलं तस्य विज्ञानं दुर्भगाभरणं यथा ॥ २५० ॥
आगामिकर्मसंरोधि ज्ञानं चारित्रमर्जितम् ।
क्षपयेत्कर्मसम्यक्त्वं शश्वत्पुर्णाति तद्वयम् ॥ २५१ ॥
श्रद्धानं केवलं तत् स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम् ।
न ज्ञानं नापि चारित्रं किन्तु तंत्त्रितयं मतम् ॥ २५२ ॥
श्रद्धानात्स्वेष्टसिद्धिश्चेत्तदेतन्न सुदुर्लभम् ।
कुशूलस्थितधान्यस्य पाकः श्रद्धानगो भवेत् ॥ २५३ ॥
ज्ञानादेवेष्टसिद्धिश्चेत्तदा श्रद्धाम्महे वयम् ।
दृष्टमेव जलं दूरातृप्लाघति भवेदिति ॥ २५४ ॥
चारित्रेणैव चेत्सिद्धिरङ्के पिहितदावनान् ।
दावानलव्यालकूपव्याप्ताद्गच्छेत्सुखं बहिः ॥ २५५ ॥
तस्मात्सम्यक्त्वसज्ज्ञानसच्चारित्रत्रयात्मकम् ।
धर्मः स्वर्गापवर्गैकफलनिःपत्तिसाधकम् ॥ २५६ ॥
विज्ञायेति समाराध्यो धर्म एषो मनीषिभिः ।
यस्तुष्टो संपदो तुष्टो ददाति विपदोऽन्यथा ॥ २५७ ॥
इत्येष धर्मो गृहिणां मयोक्तो यथागमं स्वल्परुचीन्विनेयान् ।
विशोध्य विस्तारयतः प्रयत्नात्सन्तः सदा सद्गुणभूषणाढ्याः ॥
विख्यातोऽस्ति समस्तलोकवलये श्रीमूलसंघोऽनघः ।
तत्राभूद्विनयेन्दुरतद्भुतमतिः श्रीसागरेन्दोः सुतः ॥ २५९ ॥

---

१ पालयति ।

तच्छिष्योऽजनि मोहभूभृदशनिस्त्रैलोक्यकीर्तिर्मुनिः ।
तच्छिष्यो गुणभूषणः समभवत्स्याद्वादचूडामणिः ॥ २६० ॥
तेनायं भव्यचित्तादिवल्लभाख्यः सतां कृते ।
सागारधर्मो विहितः स्थेयादापृथिवीतले ॥ २६१ ॥
अस्त्यत्र वंशः पुरपाटसंज्ञः समस्तपृथ्वीपतिमाननीयः ।
त्यक्त्वा स्वकीयां सुरलोकलक्ष्मीं देवा अपीच्छन्ति हि यत्र जन्म॥
तत्र प्रसिद्धोऽजनि कामदेवः पत्नी च तस्याजनि नाम देवी ।
पुत्रौ तयोर्जोमनलक्ष्मणाख्यौ वभूवतू राघवलक्ष्मणाविव ॥
रत्नं रत्नखनेः शशी जलनिधेरात्मोद्भवः श्रीपतेः ।
तद्वज्जोमनतो बभूव तनुजः श्रीनेमिदेवाह्वयः ॥ २६४ ॥
यो बाल्येऽपि महानुभावचरितः सज्जैनमार्गे रतः ।
शान्तः श्रीगुणभूषणक्रमनतः सम्यक्त्वचूडांकितः ॥ २६५ ॥
यस्त्यागेन जिगाय कर्णनृपतिं न्यायेन वाचस्पतिम् ।
नैर्मल्येन निशापतिं नगपतिं सत्स्थैर्यभावेन च ॥ २६६ ॥
गांभीर्येण सरित्पतिं सलपतिं सद्धर्मसद्भावनात् ।
सः श्रीमद्गुणभूषणोन्मति नतो नेमिश्चिरं नंदतु ॥ २६७॥
श्रीमद्वीरजिनेशपादकमले चेतः षडंह्रि सदा ।
हेयाहेयविचारबोधनिपुणा बुद्धिश्च यस्यात्मनि ॥ २६८ ॥
दानं श्रीकरकुड्मले गुणततिर्देहे शिरस्युन्नतिः ।
रत्नानां त्रितयं हृदिस्थितमसौ नेमिश्चिरं नंदतु ॥ २६९ ॥

इतिश्रीमद्गुणभूषणाचार्यविरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधानश्रावकाचारे साधुनेमिदेवनामांकिते सम्यक्त्वचारित्रवर्णनं तृतीयोद्देशः समाप्तः ।